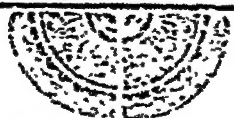


मुद्रक

वंशीधर उदयराज पंडित,

' श्रीधर ' प्रेस,

भवानीपेठ, सोलापूर.



अनुवादकका परिचय.



यू. पी. प्रांतमें आगराके निकट एक चावली गांव है। वह है तो छोटा परंतु सुंदर है। इसी गांवमें एक लाला तोतारामजी रहते थे, वे जैसे धर्मात्मा थे वैसे ही अच्छे अनुभवी वैद्य थे, और जैसे सज्जन थे वैसे ही परोपकारी थे। यही कारण था कि वे गांवके शिरोमणि गिने जाते थे। आपने इस असार संसारको वि. सं. १९६५ में छोडा।

आपके छह पुत्र हुए।

१ रामलालजी—आप आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करते हुए घरका काम करते रहे। आपका स्वभाव बहुतही मिलनसार और उत्तम था। आप भी बडे धर्मात्मा थे। आपने सम्वत १९७० में अपना नश्वर शरीर छोडा।

२ मिट्ठनलालजी—घरपर रहकर व्यवसाय करते हैं आपके पुत्रका नाम चि० नेमिचंद है।

३ तीसरे पं. लालारामजी जैन शास्त्री (धर्मरत्न) हैं जिन्होंने इस ग्रंथका अनुवाद और व्याख्या की है।

४ पं. नन्दनलालजी—आप भी हिंदीके अच्छे लेखक और कवि हैं। आपने चौवीसी पाठ दिवाली पूजन आदि कितने ही कविताके ग्रंथ लिखे हैं। आपने गुजराती भाषामें भी पुस्तकें लिखी हैं। आपके पुत्रका नाम चि. जयकुमार है। आप इस समय ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर आचार्य श्री १०८ श्री शांतिसागरजी महाराजके संघके साथ रहकर गुरुभक्तिका लाभ उठा रहे हैं।

५ पं. मक्खनलालजी—आप जैन समाजमें एक धुरंधर विद्वान हैं आपने देहली नगरमें आर्य समाजियोंके साथ छह दिन तक लगा तार शास्त्रार्थ कर अच्छी विजय प्राप्त की है। आपने पंचाध्यायी और

पुरुषार्थ सिध्युपाय को सुबोधिनी नामकी एक विस्तृत और स्वतंत्र टीका लिखी है। आपको न्यायालंकार, वादीभकेसरी, विद्यावारिधि, धर्मवीर आदि पदवियां प्राप्त हैं। इस समय आप श्री. गो. दि. जैन सिद्धांत विद्यालय के सहायक मंत्री हैं और भारत वर्षीय दि. जैन महासभा के मुखपत्र जैनगजट के सूत्रधार सम्पादक हैं।

६ भाई श्रीलालजी—आप जौंहरी हैं जवाहरातका काम अच्छा जानते हैं। इस समय आप कलकत्ता में व्यापार करते हैं।

अनुवादकने महाविद्यालय मथुरा और संस्कृत विद्यालय बम्बईमें विद्याध्ययन किया है। विद्याध्ययन करनेमें न्यायवाचस्पति वा. ग. केसरी पं. गोपालदासजी, पं. पन्नालालजी बाकलीवाल, पं. धन्नालालजी काशलीवाल की विशेष कृपा रही है। विद्याध्ययन के बाद प्राय: अध्यापन कर्म में ही लगे हुए हैं; साथमें बहुतसी समाजसेवा भी करते रहे हैं। श्री भारत वर्षीय दि० जैन महासभाने आपकी सेवासे प्रसन्न होकर धर्मरत्न की उपाधि प्रदान की है।

आपने अबतक नीचे लिखे ग्रंथोंका अनुवाद किया है—आदिपुराण, उत्तरपुराण, शांतिपुराण, सागार धर्मामृत, धर्मप्रश्नोत्तर, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, जिनशतक, पात्रकेसरिस्तोत्र, चारित्रसार, संशयिवदनविदारण, गौतम चरित्र, सारसमुच्चय, सुभौम चरित्र, सूक्तिमुक्तावली, दशलाक्षणिक जयमाल, तत्त्वानुशासन, वैराग्यमणिमाला, द्वादशानुप्रेक्षा, प्रबोधसार, चतुर्विंशति संधान, आदि। इनके सिवाय आदिपुराण समीक्षा की परीक्षा दो भाग, षोडशसंस्कार, बालबोध जैन धर्म ३—४ भाग, क्रिया मंजरी आदि और भी छोटे मोटे ग्रंथ हैं।

इस समय पंडितजीके कुटुंबमें २ कन्याएं और एक चि. राजेन्द्र कुमार पुत्र है।

रावजी सखाराम दोशी सोलापूर.

विषयसूची.

दूसरा अध्याय.

तीसरा अध्याय.

॥ इति ॥





महापंडित यशःकीर्ति विरचित.

प्रबोधसार.

प्रतिज्ञा.

अकारादिणकारान्तान् मुक्त्वा वर्णान् निरूप्यते।
ग्रंथः प्रबोधसारोयं शेषैरष्टादशाक्षरैः॥ १ ॥

अर्थः— अकारसे लेकर णकार पर्यंत अक्षरोंको छोडकर बाकीके केवल अठारह अक्षरोंसे यह प्रबोधसार नामका ग्रंथ कहता हूं।

भावार्थः— यह ग्रंथ केवल—त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह—इन अठारह अक्षरोंसे ही बना है। इसमें—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण—ये अक्षर सर्वथा नहीं हैं।

मंगलाचरण.

नमः श्रीवीरनाथाय, भव्याम्भोरुहभास्वते।
परानंदसुधास्यंदस्वादसंवेदनात्मने॥ २ ॥

अर्थः— जो भगवान वीरनाथ स्वामी सर्वोत्कृष्ट अनंत सुख रूपी अमृतसे उत्पन्न हुए स्वादका सदा अनुभव करते रहते हैं और भव्य रूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये जो सूर्य हैं ऐसे श्री वीरनाथ स्वामीके लिये मैं सदा नमस्कार करता हूं।

भावार्थः— जिस प्रकार सूर्यके उदय होते ही संसारभरके समस्त कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान महावीर स्वामीके

दिव्योपदेशसे अनेक भव्य जीवोंका कल्याण हुआ है। इसके सिवाय वे भगवान महावीर स्वामी अनंत सुख रूप हैं। अनंत सुख उनके आत्म-स्वरूप है। इसलिये वे सदा अनंत सुखरूप रहते हैं। ऐसे महावीर भगवानके लिये मैं इस ग्रंथके प्रारंभमें नमस्कार करता हूं।

आगे धर्मको नमस्कार करते हैं।

नमो धर्माय शर्मश्रीरम्यहर्म्याय सर्वदा।
संसारदुस्तराम्भोधिसेतवे शिवहेतवे ॥ ३ ॥

अर्थ—जो अहिंसारूप धर्म मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिये मनोहर भवन है, संसाररूपी अपार समुद्रसे पार होनेके लिये पुल है और मोक्षका साक्षात् कारण है ऐसे धर्मके लिये मैं सदा नमस्कार करता हूं।

आगे रत्नत्रयको नमस्कार करते हैं।

वंदे रत्नत्रयं शुद्धमनौपम्यमनश्वरम्।
भव्या विभूषिता येन वल्लभाः स्युः शिवश्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय शुद्ध है, उपमा रहित है, कभी नाश नहीं होता और जिससे सुशोभित हुए भव्य जीव मोक्षरूपी लक्ष्मीके स्वामी होते हैं ऐसे रत्नत्रयके लिये मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—कर्मोंके क्षय होनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है इसीलिये यह रत्नत्रय शुद्ध है। संसारमें इसके समान अन्य कोई पदार्थ नहीं है इसलिये यह उपमा रहित है। यह आत्मस्वरूप है—शुद्ध आत्माका स्वभावरूप है इसी लिये कभी नष्ट नहीं होता। तथा रत्नत्रयसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये यह शुद्धात्माका सर्वोत्तम आभूषण है। ऐसे रत्नत्रयको मैं (ग्रंथकार) सदा नमस्कार करता हूं।

आगे सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हैं।

विना तीव्रव्रतायासैर्देवेन्द्रादिविभूतयः।

सम्पद्यन्ते सतां येन तद्वन्दे शुद्धदर्शनम् ॥ ५ ॥

अर्थ–जिस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे सज्जन पुरुषोंको कठिन कठिन व्रत तप आदिके परिश्रमके विना भी इंद्र आदिकी उत्तम उत्तम विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं ऐसे शुद्ध सम्यग्दर्शनको नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शन ही प्रधान है। क्योंकि शुद्ध सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर विना किसी व्रतके पालन किये वा विना किसी तप चारित्र आदिके धारण किये भी भव्य जीवोंको स्वर्गादिकी अनुपम संपदा प्राप्त हो जाती है। यह आत्माका शुद्ध गुण है इसीलिये ग्रंथकार इसे नमस्कार करते हैं।

आगे ग्रंथकार अपनी प्रतिज्ञा कहते हैं।

देशसंयमिनां धर्मो देशतः प्रतिपाद्यते।
धर्म्यध्यानार्थमारम्भो न सतां हास्यहेतवे ॥ ६ ॥

अर्थ—आगे इस ग्रंथमें संक्षेपसे देशसंयमियोंका अर्थात श्रावकोंका धर्म निरूपण करेंगे। यह हमारा प्रारम्भ धर्म ध्यानके लिये है सज्जनोंको हंसी करनेके लिये नहीं है।

भावार्थ—इस ग्रंथमें संक्षिप्त श्रावकाचारका कथन है। और वह केवल धर्मकी वृद्धिके लिये है। भव्य जीव इसे पढकर धर्म धारण करें, अपने आत्माका कल्याण करें इसीलिये इस ग्रंथका प्रारम्भ किया गया है। इसकी त्रुटियोंको देखकर सज्जनोंको हँसना नहीं चाहिये किंतु शुद्ध कर पठन पाठनके द्वारा आत्मकल्याण करना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनको बतलाते हैं।

तत्त्वार्थानां यथास्थित्या श्रद्धानं दर्शनं मतम्।
विपरीतं तु मिथ्यात्वं तदश्रद्धानसंभवम् ॥ ७ ॥

अर्थ–जीव अजीव आदि पदार्थोंका जो यथार्थ स्वरूप है उसीके अनुसार उनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। तथा उन्हीं जीव अजीव आदि यथार्थ तत्त्वोंका विपरीत श्रद्धान करना अथवा

उनका श्रद्धान नहीं करना अथवा उन यथार्थ तत्त्वोंके विपरीत अन्य पदार्थोंका श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन समझना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं।

देवे धर्मे तथा तत्त्वे साधौ समयभाषिते।
यत्र स्यात्स्थेयसी बुद्धिर्दर्शनं तद्विदुर्बुधाः॥ ८॥

अर्थ—यथार्थ देवमें, यथार्थ धर्ममें, शास्त्रोंमें कहे हुए जीव अजीव आदि यथार्थ तत्त्वोंमें और यथार्थ साधुओंमें जहां निश्चल बुद्धि होती है उसे विद्वान लोग सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—देव शास्त्र गुरु धर्म और जीवादिक पदार्थोंमें तलवारकी धारके समान निश्चल (अटल वा अडोल) श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

आगे यथार्थ देवका लक्षण कहते हैं।

निर्दोषः सत्यवादीशो देवोर्हत्परमेश्वरः।
सर्ववित्सर्वदेवेन्द्रसंस्तुतांघ्रिसरोरुहः॥ ९॥

अर्थ—जो क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं, जो सत्यवादियोंके स्वामी हैं, सर्वज्ञ हैं, और समस्त देव इंद्र जिनके चरण कमलोंकी स्तुति करते हैं ऐसे भगवान अरहंत देवको देव कहते हैं।

भावार्थ—भूख, प्यास, बुढापा, रोग, शोक, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह, चिंता, अरति, खेद, निद्रा, आश्चर्य, पसीना—ये अठारह दोष कहलाते हैं। भगवान अरहंतमें ये अठारह दोष नहीं हैं इसीलिये वे निर्दोष वा दोषरहित कहलाते हैं। यह नियम है कि जो निर्दोष होता है वही सर्वज्ञ होता है। इसका भी कारण यह है कि राग द्वेष आदि सब विकार कर्मोंके उदयसे होते हैं और उन कर्मोंके नाश होनेसे ये दोष सब नष्ट हो जाते हैं। दोषोंके नष्ट होनेसे ही आत्मा शुद्ध हो जाता है और शुद्ध होनेसे ही उसमें समस्त पदार्थोंकी झलक पडने लगती है अर्थात् शुद्ध होतेही आत्मा समस्त पदार्थोंको जानने लगता है

और सर्वज्ञ हो जाता है। भगवान अरहंतदेव निर्दोष हैं इसीलिये वे सर्वज्ञ हैं। तथा जो निर्दोष और सर्वज्ञ होता है वही सत्य वक्ता होता है। इसका भी कारण यह है कि मिथ्या भाषण या तो अज्ञानतासे होता है या राग द्वेष आदि किसी दोषसे होता है। भगवान अरहंत देवमें न तो अज्ञान है और न दोष हैं क्योंकि वे निर्दोष और सर्वज्ञ हैं। इसलिये वे भगवान ही सत्यवादियोंके स्वामी हैं और इसीलिये उनका कहा हुआ आगम कहलाता है। इन सब गुणोंके कारण ही इंद्रादि देव उनके चरण कमलोंकी पूजा किया करते हैं। इस प्रकार भगवान अरहंत देव निर्दोष हैं, सर्वज्ञ हैं, सत्यवादियोंके स्वामी हैं और इंद्रादि देवोंके द्वारा पूज्य हैं इसलिये वे ही आप्त या सच्चे देव हैं। जिसमें ये गुण नहीं है वह कभी देव नहीं हो सकता।

आगे कुदेवका स्वरूप बतलाते हैं।

ये शस्त्रादिभृतो रौद्रा द्वेषाद्यैः परिवर्तिताः।
शापप्रसादसारंभा न ते देवा भवापहाः॥ १०॥

अर्थ— जो चक्र, गदा, पद्म, धनुष्य, तलवार आदि शस्त्रोंको धारण करते हैं; जिनका स्वरूप भयानक है; जो राग वा द्वेषके कारण सदा नृत्य किया करते हैं; जो रुष्ट हो जानेपर शाप देते हैं और प्रसन्न होनेपर वर देते हैं—ऐसे देव न तो देव ही हैं और न वे प्राणियोंको इस संसाररूपी महासागरसे पार कर सकते हैं।

भावार्थ—राग द्वेष ही संसारमें डुबानेवाले हैं। इन्हींके कारण शस्त्र धारण करने पडते हैं और प्रत्येक कार्यकी पूर्तिके लिये नाचना पडता है। इसलिये जो राग द्वेषसे रहित होता है—इन दोनोंको नष्ट कर देता है वही यथार्थ देव हो सकता है। शस्त्रोंका धारण करना राग द्वेषका चिन्ह है; स्त्री रखना काम और मोहका चिन्ह है और शाप व वर का देना राग द्वेष दोनोंका चिन्ह है। इसलिये जिस देवमें ये सब दोष हों अथवा इनमेंसे कोई एक दो हों वह कभी देव नहीं हो सकता। वह भी हमारे

समान संसारी ही है। उसमें और हममें कोई अंतर नहीं है। अतएव धर्मकी वृद्धिके लिये और आत्माको शुद्ध करनेके लिये अथवा संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये कभी ऐसे देवोंकी पूजा नहीं करनी चाहिये। पूज्य पुरुष आदर्श पुरुष होता है और वैसा बननेके लिये ही उसकी पूजा की जाती है। जब वह स्वयं राग द्वेषसे परिपूर्ण है तब उसकी पूजा करनेवाले राग द्वेष रहित कैसे हो सकते हैं? इसलिये ऐसे देवोंकी पूजा करनेसे इस जीवका कल्याण कभी नहीं हो सकता।

आगे धर्मका स्वरूप कहते हैं।

दयामूलं यतो धर्मः सत्त्वानां शान्तिदः सदा ॥
शिवसौधस्य सोपानं सर्वैश्वर्यप्रसाधनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—समस्त जीवोंकी दया पालन करना ही धर्म है क्योंकि दया ही समस्त प्राणियोंको सदा सुख पहुंचानेवाली है। यही मोक्षरूप भवनकी सीढी है और समस्त धनधान्यादि संपदाओंको देनेवाली है।

भावार्थ—जिससे सुख शांति मिले, जो संसारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुखमें पहुंचा दे उसे धर्म कहते हैं। ऐसा धर्म एक दया ही है इससे छोटे बडे सब जीवोंको सुख मिलता है और इसीलिये यह मोक्षका कारण है। तथा इंद्र चक्रवर्ती आदि की विभूतियां भी इसी दया धर्मसे प्राप्त होती हैं।

आगे अधर्म वा मिथ्याधर्म बतलाते हैं।

मिथ्याबुद्धिभिराम्नातो हिंसाद्यैर्विपदास्पदाम्।
धर्मधर्मेति नाम्नेव न धर्मोयं सतां मतः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मिथ्या दृष्टियोंके द्वारा कहा हुआ है हिंसा झूठ चोरी आदि पापोंके कारण जो नरकादिक अनेक दुखोंका कारण है और जो केवल नामसे ही धर्म कहा जाता है वह वास्तविक धर्म नहीं है उसे सज्जन लोग कभी धर्म स्वीकार नहीं कर सकते।

भावार्थ—जिसमें हिंसा झूठ चोरी कुशील आदि महा पापोंके

करनेका उपदेश दिया हो वह कभी धर्म नहीं कहला सकता। ऐसे धर्मका उपदेश अल्पज्ञानी मिथ्यादृष्टी ही दे सकते हैं। क्योंकि महा मोहके कारण वे स्वयं उस धर्मका स्वरूप नहीं समझते। केवल इंद्रियोंको पुष्ट करनेके लिये और विषयवासनाकी पूर्तिके लिये ऐसा उपदेश देते हैं। परंतु ऐसे धर्मसे जीवोंका कल्याण कभी नहीं हो सकता। जीवोंका कल्याण तो पापोंके छोडनेसे होता है और पापोंमें मुख्य पाप हिंसा है। झूठ चोरी कुशील आदि अन्य सब पापोंमें भी हिंसा होती है इसलिये ही वे पाप गिने जाते हैं। यदि पूर्णरूपसे हिंसा का त्याग हो जाय तो फिर सहजमें ही सब पापों का त्याग हो जाता है। और सब पापोंके त्याग हो जानेसे ही आत्मा शुद्ध हो जाता है। इसलिये एक अहिंसा ही परम धर्म है। यही सब जीवोंके सुखका कारण है।

आगे साधु वा गुरुका स्वरूप कहते हैं।

सर्वसत्त्वहिताः शान्ताः स्वदेहेपि हि निस्पृहाः।
यतयो ब्रह्मतत्त्वस्था यथार्थपरिवादिनः॥ १३।

अर्थ—जो समस्त जीवोंका हित करने वाले हैं, अपने शरीरसे भी जिन्होंने ममत्व छोड दिया है, जो शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन रहते हैं और जो यथार्थ मोक्षमार्ग का स्वरूप कहनेवाले हैं उन्हें मुनि वा गुरु कहते हैं।

भावार्थ—जो अपने शरीर से भी ममत्व छोडकर शुद्ध आत्मामें लीन रहते हैं वे ही शांत होते हैं, वे ही यथार्थ मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं और उन्हींसे सब जीवोंका कल्याण होता है।

आगे कुगुरुका स्वरूप कहते हैं।

सर्वसावद्यसंपन्नाः संसारारम्भवर्तिनः।
सलोभाः समदाः सेर्प्याः समाना यतयो न ते॥ १४॥

अर्थ—जो खेती करना, बाग बगीचा लगाना, कुआ बावड़ी खुदवाना आदि हिंसाके सब काम करते हैं; जो जन्म मरण रूप संसारमें परिभ्रमण

करने वाले हैं; जो लोभी हैं; अभिमानी हैं; अन्य लोगोंसे ईर्ष्या वा डाह करते रहते हैं वे कभी मुनि कहलाये नहीं जा सकते।

आगे यथार्थ तत्त्वोंको कहते हैं।

तत्त्वं प्रमानयाधीनं निर्दोषार्हत्प्रभाषितम्।
पूर्वापरविरोधादिदोषदूरपथस्थितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जो तत्त्व प्रमाण और नयोंसे सिद्ध किये हुए हैं निर्दोष भगवान अरहंत देवके कहे हुए हैं और पूर्वापर विरोध आदि कोई दोष जिनमें नहीं आता वे ही वास्तविक तत्त्व कहलाते हैं।

भावार्थ—जो भगवान् अरहंत देवके कहे हुए हैं वे ही वास्तविक तत्त्व हैं क्योंकि भगवान अरहंत देव निर्दोष और सर्वज्ञ हैं इसलिये वे तत्वोंका स्वरूप मिथ्या कभी नहीं कह सकते। और न उनके कथन में किसी प्रकारका विरोध आसकता है। जो अज्ञानी हैं अथवा राग द्वेष आदि दोषों के आधीन हैं उन्हींके कथनमें विरोध आसकता है। भगवान अरहंत देवके कहे हुए तत्त्व ही प्रमाण नयके आधीन रह सकते हैं अन्य नहीं।

आगे अतत्त्व वा मिथ्या तत्त्वोंको कहते हैं।

पूर्वापरविरोधाद्यैरद्वैतादिनयैस्तथा।
विरुद्धं यद्भवेत्तत्त्वं तन्न तत्त्वं सतां मतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनमें पूर्वापर विरोध आता है ऐसे अद्वैत आदि नयोंसे जो तत्त्व सर्वथा विरुद्ध हो जाते हैं—अपने यथार्थ स्वरूपसे विपरीत हो जाते हैं उन्हें सज्जन लोग कभी तत्त्व नहीं मानते।

भावार्थ—पदार्थोंका स्वरूप सर्वथा द्वैत माना जाय अथवा अद्वैत माना जाय तो अनेक प्रकारके दोष आते हैं तथा पदार्थोंका स्वरूप सर्वथा विरुद्ध हो जाता है। इसलिये पदार्थोंका ऐसा स्वरूप मानना अतत्त्व वा मिथ्या तत्त्व है। ऐसे तत्त्वोंका श्रद्धान करना मिथ्या दर्शन कहलाता है।

आगे सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा करते हैं।

स्वामिनेव विना सैन्यमात्मनेव विना वपुः।
दर्शनेन विना सर्वं वृथा व्रततपस्तथा ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विना स्वामीके सेना व्यर्थ है और आत्माके विना शरीर व्यर्थ है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके विना व्रत पालन करना तपश्चरण करना आदि सब व्यर्थ है।

हीनोपि वृत्तबोधाभ्यां प्रशस्यो दर्शनी भवेत्।
युतोपि वृत्तबोधाभ्यां न शस्यो दर्शनादृते ॥ १८ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके विना भी सम्यग्दृष्टि प्रशंसनीय गिना जाता है। परंतु विना सम्यग्दर्शनके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धारण करलेनेपर भी वह प्रशंसनीय नहीं गिना जा सकता।

भावार्थ—रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शन ही मुख्य है। सम्यग्दर्शनके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हो सकते हैं, विना सम्यग्दर्शनके नहीं। विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान सब मिथ्या ज्ञान हैं और चारित्र सब मिथ्या चारित्र है। विना सम्यग्दर्शनके व्रत जप तप आदि भी सब व्यर्थ है। इसलिये मनुष्यजन्म पाकर सबसे पहिले सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनकी और भी सामर्थ्य दिखलाते हैं।

सुरासुरनराधीशसम्पदां पदमुत्तमम्।
दातुं भवाम्बुधेः पारं नेतुं तस्यैव वैभवम् ॥ १९ ॥

अर्थ–इंद्र भवनेन्द्र और नरेन्द्र आदिकी संपदाओंको प्राप्त कराने वाले उत्तम उत्तम पदोंके देनेकी, और संसाररूपी महासागरसे पार करनेकी सामर्थ्य इसी एक सम्यग्दर्शनमें है।

भावार्थ–देव इंद्र चक्रवर्ती आदिकी विभूतियां और पद इस सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे प्राप्त होते हैं तथा अचिंत्य और परमानंद अनंत सुखको धारण करनेवाली मोक्ष भी इसी एक सम्यग्दर्शनके प्रभावसे प्राप्त होती है।

आगे सम्यग्दर्शनके दोषोंके लिये कहते हैं ।

संदेहादिमहादोषैर्दर्शनं तन्मलीमसम् ।
स्वसाध्यं साधयेन्नैव यथा नौर्विवरैर्युता । २० ।

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन शंका कांक्षा आदि महादोषोंसे मलिन होता है वह सम्यग्दर्शन अपनी इष्ट सिद्धिको कभी सिद्ध नहीं कर सकता । भला, जिस नावमें अनेक छिद्र हो गये हैं वह कभी पार पहुंचा सकती है ? कभी नहीं ।

भावार्थ—शंका कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यधर्मप्रशंसा और अन्य धर्मस्तुति ये पांच सम्यग्दर्शनके दोष कहलाते हैं । जिस प्रकार अनेक छिद्रोंसे जर्जरित हुई नावसे कोई पार नहीं पहुंच सकता उसी प्रकार ऊपर लिखे दोषोंसे मलिन हुए सम्यग्दर्शनसे कोई मुक्त नहीं हो सकता ।

आगे सम्यग्दर्शनकी भावना कहते हैं ।

दर्शनभावनां प्राहुः प्रमापूतेषु वस्तुषु ।
भ्रांतिसंदेहसंमोहदूरितं वेदनं हि तत ।। २१ ।।

अर्थ—प्रमाणसे निश्चय किये हुए पदार्थोंको संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जानना सम्यग्दर्शनकी भावना कहलाती है ।

भावार्थ—पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेसे उन पदार्थोंका श्रद्धान दृढ हो जाता है । और श्रद्धान दृढ हो जानेसे सम्यग्दर्शन सुदृढ बना रहता हैं । इसीलिये यथार्थ पदार्थोंके जाननेको सम्यग्दर्शनकी भावना कहा है ।

आगे मिथ्या दर्शनको कहते हैं ।

वेदने दर्शने वृत्ते विपर्ययपरं मनः ॥
मिथ्यात्वं त्रिषु भाषन्ते सूरयः सर्वदेहिनः ॥ २२ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान और चारित्रमें विपरीत भाव होनेको मिथ्यात्व कहते हैं । इस प्रकार आचार्योंने सब प्राणियोंके लिये यह मिथ्यात्वका स्वरूप बतलाया है ।

आगे ऐसे मिथ्यादृष्टियोंको यथार्थ उपदेश अच्छा नहीं लगता यह बतलाते हैं।

प्रायः प्रत्युत तापाय यथार्थस्योपदेशनम् ॥
यथा निर्लूतनाशस्य विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिन लोगोंकी नाक कटी हुई है ऐसे मनुष्योंको निर्मल दर्पण दिखलानेसे बुरा लगता है और अपनी कटी नाक देखकर बहुत दुःख होता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीवोंको यथार्थ पदार्थोंका उपदेश देनेसे संताप होता है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी जीव अनादि कालके संस्कार और प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे पदार्थोंके मिथ्या स्वरूपमें ही विश्वास कर रहे हैं। उनमें कितने ही तो इतने प्रबल मिथ्यात्वी हैं कि जीवका अस्तित्व तक नहीं मानते और इसीलिये वे मनमाने अत्याचार अनत्याचार और पाप करते हैं। यदि उनको पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप समझाया जाता है और जीवादि पदार्थोंका अस्तित्व बतलाकर पाप कार्योंके छोडनेका उपदेश दिया जाता है तो उन पाप कार्योंके छोडनेकेलिये वे बडे दुःखी होते हैं तथा अनादि कालके अभ्यास और मोहनीय कर्मके प्रबल उदय होनेके कारण उन्हें छोड नहीं सकते इसलिये वे यथार्थ उपदेशको सुनकर दुःखी और संतप्त होते हैं और प्रायः क्रोध करने लग जाते हैं। इसलिये यथार्थ पदार्थोंका उपदेश भद्र पुरुषोंके लियेही कार्यकारी होता है, गाढ मिथ्यात्वी जीवोंके लिये नहीं। जो जीव मिथ्यात्वी होते हुए भी जिनशासनसे द्वेष नहीं रखते—मोहनीय कर्मके मंद उदयसे जिनशासनमें प्रेम रखते हैं उन्हें भद्र कहते हैं। ऐसे पुरुष यथार्थ उपदेश मिलनेपर सम्यग्दर्शन ग्रहण कर सकते हैं। इसलिये ऐसे पुरुषोको यथार्थ उपदेश अवश्य देना चाहिये।

आगे शंका दोषको कहते हैं।

तत्त्वमेतदिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम्।
देवोयमेष देवः स्यादित्ययं संशयो मतः ॥ २४ ॥

अर्थ—तत्त्वोंका स्वरूप यह है, अथवा यह है; व्रत ये हैं अथवा ये हैं; यथार्थ देव ये हैं अथवा ये हैं—इस प्रकार मनके चंचल होनेको संशय अथवा शंका दोष कहते हैं।

भावार्थ—देव तत्त्व और व्रतोंके स्वरूपमें शंका करना शंका दोष है। जिसके मनमें संदेह बना रहता है उसका मन कहीं भी निश्चल नहीं हो सकता। और देव शास्त्र गुरुमें मनके निश्चल हुए विना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। तथा विना सम्यग्दर्शनके आत्मकल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार शंका दोषसे आत्माका कल्याण होना ही रुक जाता है। इसलिये भव्य जीवोंको भगवान् अरहंत देवके कहे हुए तत्त्वोंमें संदेह कभी नहीं करना चाहिये। उनमें निश्चल रीतिसे मनको लगाकर दृढ श्रद्धान करना चाहिये।

आगे शंका दोषसे होनेवाली हानिको दिखलाते हैं।

तथा संदेहभावेषु न स्याद्दर्शनशुद्धता।
नैवाप्तमन्नीप्सितावाप्तिर्यथैवोभयवेतने ॥ २५ ॥

अर्थ—यदि भगवान अरहंत देवके कहे हुए तत्त्वोंमें संदेह बना रहे तो फिर उससे सम्यग्दर्शन शुद्ध कभी नहीं हो सकता और न उस सदोष सम्यग्दर्शनसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार दो राजाओंकी सेवा करनेवाले सेवकको कुछ भी प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई सेवक एक साथ दो राजाओंकी सेवा करे तो वह दोनोंमेंसे किसी की भी अच्छी सेवा नहीं कर सकता और न किसीको प्रसन्न कर सकता है। और इसीलिये उसे उस सेवाका कुछ भी फल नहीं मिल सकता। इसी प्रकार जो पुरुष यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के पदार्थोंमें श्रद्धान रखते हैं उनका सम्यग्दर्शन कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसलिये पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपमें कभी संदेह नहीं करना चाहिये।

तत्त्वे शुद्धे धने लब्धे पात्रे वा समुपस्थिते।

यस्य दोलायते स्वान्तं सोऽधमः स्याद्भवद्वये ॥ २६ ॥

अर्थ— तत्त्वोंका ज्ञान हो जानेपर, धनके प्राप्त हो जानेपर और पात्रके आ जानेपर जिसका मन संदेहके झूलेमें झूला करता है वह इस-लोक परलोक दोनों लोकोंमें नीच गिना जाता है ।

भावार्थ— तत्त्वोंका ज्ञान होनेपर उन तत्त्वोंमें निश्चल बुद्धि अथवा दृढ श्रद्धान हो जाना ही चाहिये । यदि तत्त्वज्ञान होनेपर भी दृढ श्रद्धान न हो और उन तत्त्वोंमें संदेह बना रहे तो उसे नीच ही समझना चाहिये । क्योंकि प्रथम तो मनुष्य पर्याय प्राप्त होना ही अत्यंत कठिन है। और फिर उसमें भी तत्त्वज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । ऐसा संयोग पाकर भी आत्मकल्याणके मार्गमें न लगना सिवाय अधोगतिके और कुछ सूचित नहीं करता। इसलिये तत्त्वज्ञान होनेपर दृढ श्रद्धान करना अत्यन्त आवश्यक है । इसी प्रकार धनके प्राप्त होनेपर दान देना आवश्यक है । धनका प्राप्त होना भी बडे पुण्योदयसे होता है। और मनुष्य पर्यायके सिवाय अन्य पर्यायोंमें दान देनेका सुयोग नहीं मिलता । इसलिये धन प्राप्त होनेपर दान देना चाहिये । जिन भगवान, जिनबिंब, स्वाध्यायशाला, पाठशाला आदि बनवाना चाहिये और तीर्थयात्रादि कर पुण्योपार्जन करना चाहिये । तथा इसी प्रकार अपने द्वारपर पात्रके आ जानेपर उसे आहारदान अवश्य देना चाहिये । क्योंकि पात्रका संयोग बडी कठिनतासे मिलता है । और वह मनुष्य पर्यायमें ही दिया जा सकता है । इसलिये पात्रका संयोग मिल जानेपर आहारदान देनेमें कभी संदेह नहीं करना चाहिये ।

आगे कांक्षा दोषको कहते हैं ।

देवः स्यां दानवः स्यां वा स्यामहं वसुधापतिः ।
यदि दर्शनमाहात्म्यमितीहा तस्य दूषिता ॥ २७ ॥

अर्थ—यदि सम्यग्दर्शनमें कुछ माहात्म्य है—यदि सम्यग्दर्शनमें कुछ सामर्थ्य है तो मैं इसके प्रभावसे अगले जन्ममें देव हो जाऊं, दानव

हो जाऊं अथवा राजा हो जाऊं—ऐसी इच्छा रखना सम्यग्दर्शनको दूषित करना है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है। और वह दर्शनमोहनीय तथा अनन्तानुबंधी कर्मोंके नष्ट होनेसे उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होनेपर आत्मामें एक ऐसा प्रकाश प्रगट हो जाता है जिससे यह आत्मा स्वपर भेदका ज्ञान कर लेता है। अर्थात् "आत्माके सम्यग्दर्शनादि गुण मेरे हैं। तथा धन धान्य आदि विभूति और शरीर आदि सब पदार्थ पौद्गलिक हैं। इनसे मेरा कोई संबंध नहीं है। इसलिये मुझे इनसे सर्वथा ममत्व छोड देना चाहिये" इस प्रकार का भान हो जाता है। ऐसा भान होनेपर फिर किसी भी सम्यग्दृष्टीको ममत्व नहीं रहता और उनके प्राप्त होनेकी इच्छा सर्वथा छूट जाती है। क्योंकि फिर वह उन पदार्थोंको अपना नहीं गिनता। उन्हें सर्वथा आत्मासे भिन्न मानता है। यदि इस प्रकारका आत्मप्रकाश प्राप्त हो जानेपर और स्वपर भेद विज्ञान हो जानेपर भी कोई परलोकमें अच्छे पद प्राप्त होनेकी या अच्छी अच्छी विभूतियां प्राप्त होनेकी इच्छा करे तो समझना चाहिये कि उस के उत्पन्न हुआ वह प्रकाश वास्तविक प्रकाश नहीं है। यदि है तो वह अत्यन्त ही मंद वा सदोष है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसी इच्छा करनेवालेके न तो शुद्ध सम्यग्दर्शन हो सकता है और न शुद्ध सम्यग्दृष्टीके ऐसी इच्छा हो सकती है। इसलिये यदि सम्यग्दर्शनको शुद्ध रखना है और शीघ्र ही आत्माका कल्याण करना है तो निदान वा आगामी भोगोंकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

दूसरी बात यह भी है कि इच्छा करनेसे कुछ मिल थोडे ही जाता है। मिलना तो पुण्य कर्मके आधीन है। यदि पुण्य कर्मका उदय होगा तो बिना किसी इच्छाके भी मिल जायगा, यदि पुण्य कर्मका उदय नहीं होगा तो इच्छा करनेसे भी कभी मिल नहीं सकता हां, यह बात अवश्य है कि यदि पुण्यकर्मका उदय प्रबल हो और इच्छा थोडीसी करे तो उस

समस्त पुण्य कर्मके बदले उसकी वह इच्छा पूरी हो जाती है। इस प्रकारसे भी इच्छा करनेमें हानि ही है। इसलिये इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। ※

आगे कांक्षा दोषसे होनेवाली हानियां दिखलाते हैं।

तुषतौल्येन रत्नानि पीयूषं वा तुषाम्बुना॥
दत्तानि तेन बालेन निदानं येन संश्रितम्॥ २८॥

अर्थ—जिसने सम्यग्दर्शन पाकर भी निदान किया, वा आगामी भोगोंकी इच्छा की उस मूर्खने रत्नोंको धूलीके बराबर तौलकर बेच दिया अथवा अमृतको तृणके ऊपर आये हुए पानीके बदले दे दिया।

※ कहा भी है—

देवधेनुर्धने यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः।
चिन्तामणिमणिप्रायं दर्शनं सर्वसौख्यदम्॥

अर्थ—सब प्रकारके सुख देनेवाला सम्यग्दर्शन जिसके प्रगट हो गया है उसके धनमें सब प्रकार के सुख देनेवाला कामधेनु शामिल समझना चाहिये तथा उसके हाथमें कल्पवृक्ष ही समझना चाहिये; क्योंकि यह सम्यग्दर्शन चिंतित पदार्थोंको देनेवाला चिंतामणि रत्नके समान है।

ज्ञानं कामगवीतुल्यं वृत्तं कल्पतरूपमम्।
तपः स्पर्शोपलप्रायं शमः सन्निधिसन्निभः॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान कामधेनुके समान है, सम्यक्चारित्र कल्पवृक्षके समान है, सम्यक् तप पारस पाषाण के समान है और शांत परिणाम श्रेष्ठ निधिके समान है।

पंचरत्नमिदं प्राप्य सर्वदा सुमुखे मम।
सोऽप्यन्यप्रार्थनां दीनास्तर्हि मोहो महोदयी॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र सम्यक्तप और शांत परिणाम ये पांच रत्न हैं। इन्हे पाकर भी जो अन्य वस्तुकी प्रार्थना रखता है तो कहना चाहिये कि उसका मोह अभी बलवान् है।

भावार्थ · रत्न अत्यन्त ही वहुमूल्य पदार्थ है। और अमृत तो अमूल्य है अथवा वह अप्राप्य है—कहीं मिलता ही नहीं। यदि इन दोनों को न कुछ के वदले दे दिया जाय तो उस देनेवालेकी निरी मूर्खता ही समझनी चाहिये। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन तो रत्न और अमृतसे भी वढकर श्रेष्ठ है। यदि उसको पाकर उसे थोडीसी इच्छाके वा लालसाके वदले वेच दिया जाय तो उसकी वह मूर्खता उससे भी वढकर है। इसलिये सम्यग्दर्शनसा रत्न पाकर फिर निदान वा आगामी भोगोंकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

आगे भी इसी वातको दिखलाते हैं।

धर्मः संहारितस्तेन तेनात्मा हारितः स्वयं ॥
येनैताः प्रार्थिता हंत दर्शनाद्भवसंपदः ॥ २९ ॥

अर्थ—वडे दुःखके साथ कहना पडता है कि जिसने सम्यग्दर्शन को पाकर भी उससे संसारकी संपदाओंकी प्रार्थना की उसने अपना धर्म खो दिया अथवा वह स्वयं अपने आत्माको हार गया।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ऐसे महारत्नको पाकर भी फिर निदान करना अथवा भोगोंकी इच्छा करना अपने धर्म और आत्माको खो देना है। इसलिये आत्माका कल्याण करनेवाले धर्मात्मा भव्य जीवोंको कभी निदान वा भोगोंकी लालसा नहीं करना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनकी महिमा दिखलाते हैं।

शिवस्थाने मनो यस्य शिवं वा यस्य मानसे।
श्रियस्तं स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्यो यथाम्बुधिम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जिसका मन मोक्षस्थानमें लगा हुआ है अथवा मोक्ष जिसके मनमें विराजमान है उसके पास संसारभरकी समस्त संपदाएं अपने आप आ जाती हैं। जैसे नदियां सव समुद्रमें अपने आप पहुंच जाती हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी का ही मन मोक्षमें लगा रहता है। विना

सम्यग्दर्शनके यह आत्मा मोक्षमार्गमें लगता ही नहीं। अथवा यों कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टी के मनमें ही मोक्ष प्राप्त होनेकी उत्कट लालसा लगी रहती है, और ऐसे सम्यग्दृष्टियोंके समीप अपने आप सब प्रकारकी संपदाएं आजाती हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टियोंको कभी किसी चीजकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। ३० ॥

आगे विनिंदा नामके दोषको कहते हैं।

तीव्रं तपो यतीन्द्रेषु नेदं संवादि सर्वथा।
स्नानाभावादिदोषैः स्यादपवादशतैर्युतम् ॥ ३१ ॥
मंदबुद्धिर्महामोहादित्थं विप्रतिपद्यते।
विनिंदा नाम तस्यायं दोषः स्याद्दर्शनाश्रयः ॥ ३२ ॥

अर्थ— "मुनिराजोंका यह शरीर जो मलिन हो रहा है वह उनके तीव्र तपश्चरणसे नहीं हो रहा है किंतु स्नान न करने आदि दोषों से और सैकडों अपवादोंसे ऐसा मलिन हो रहा है" इस प्रकार जो प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे मूर्ख पुरुषके विपरीत ज्ञान होता है वह सम्यग्दर्शनके आश्रय होनेवाला उस मूर्खका विनिंदा नामका दोष कहलाता है।

भावार्थ— मुनिराज कठिन कठिन तपश्चरण करते हैं। वे अपने शरीरसे सर्वथा ममत्व छोड देते हैं—उसे वे कभी हितकारी नहीं समझते। इसलिये वे स्नान करना वा अन्य किसी प्रकारसे उसे सुख पहुंचाना आदि क्रियाएं कभी नहीं करते। गर्मीके दिनोंमें वे कठिन तपश्चरण करनेके लिये पर्वतोंपर कायोत्सर्ग धारण कर विराजमान होते हैं। उस समय पसीना भी आता है और उस पसीना पर उड उड कर धूलि भी जम जाती है। इस प्रकार उनका शरीर मलिन हो जाता है। तथापि वे अपने शुद्ध परिणामोंसे कभी नहीं डिगते। वे उस मलिन परिषहको बराबर सहन करते रहते हैं और इस प्रकार वे अपने तपश्चरणको और भी कठिन कर लेते हैं। परंतु मूर्ख लोग अपने प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे प्रतिकूल

ही समझता है। वह समझता है कि यह मुनिराजका तपश्चरण नहीं है। किंतु स्नान न करनेसे तथा और भी ऐसे ही ऐसे अनेक कार्योंसे होने वाली मलिनता है। उस मूर्खके ऐसे विपरीत भावोंको ही विनिंदा नामका दोष कहते हैं। जिसके यह दोष होता है उसके सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता। यदि होगा तो अत्यंत मलिन होगा।

स्वस्यैव हि स दोषोयं यन्न पीतः श्रुतांबुधिः ।
बुद्धिर्वा तादृशी नैव श्रुततत्त्वार्थवेदिनी ॥ ३३ ॥

अर्थ—इस विनिंदा नामके दोषके उत्पन्न होने में मुनिराजका कोई दोष नहीं है किंतु यह दोष उस विपरीत परिणाम वालेका ही है। और इसका भी कारण यह है कि उसने श्रुतज्ञान रूपी महासागरका जल पीया नहीं है। अथवा शास्त्रोंमें कहे हुए तत्त्वोंको जाननेवाली उसकी वैसी बुद्धि ही नहीं है।

भावार्थ-जो मनुष्य शास्त्रोंमें कहे हुए तत्त्वोंके स्वरूपको नहीं जानता अथवा जिसने कभी भगवान अरहंत देवके कहे हुए शास्त्रोंका अभ्यास वा पठन पाठन किया ही नहीं है उसीके यह विनिंदा नामका दोष होता है। क्योंकि वह आत्मा और शरीरका स्वभाव ही नहीं समझता और न तपश्चरणका वा चारित्रका स्वरूप जानता है। इसीलिये वह उस तपश्चरणको ही सदोष समझ लेता है। परंतु यह उसकी अजानकारीका दोष है; और कुछ नहीं है।

आगे इसी बातको उदाहरण दिखलाकर कहते हैं।

महाशुद्धं स्वयं व्योम दृश्यते यन्मलीमसम् ।
नायं व्योमस्थितो दोषः स दोषो नयनाश्रितः ॥ ३४ ॥

अर्थ—आकाश अपने आप महा शुद्ध है तथापि उसमें जो मलिनता दिखाई पड़ती है वह उस आकाशकी मलिनता नहीं है। किंतु वह नेत्रोंमें होनेवाला एक प्रकारका दोष है।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश शुद्ध होनेपर भी केवल नेत्रोंके

दोषसे मलिन दिखाई पडता है। आकाश अमूर्त पदार्थ है उसमें मलिनता किसी प्रकार आ नहीं सकती। मलिनता पुद्गलका पर्याय है, वह आकाश में रह नहीं सकता। इस लिये आकाश कभी मलिन हो नहीं सकता। परंतु फिर भी जो मलिन दिखाई देता है वह केवल नेत्रों का दोष है, इसी प्रकार मुनिराज का शरीर भी अन्यगुणोंके प्रगट होने के कारण तथा तपश्चरणके कारण अत्यंत पवित्र है तथापि अज्ञानी उसे मलिन जानते हैं। यह केवल उन्हींका दोष है; अन्य किसीका नहीं।

आगे विनिंदा दोषसे होनेवाली हानियां दिखलाते हैं।

तत्त्वं विनिन्दयेद्यस्तु देहदोषस्य दर्शनात्।
स संभाव्य मलं लोहे समलं हेम मन्यते ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी शरीरके दोष देखकर पवित्र आत्माकी निंदा करता है वह लोहेमें उत्पन्न होनेवाले मलको जानकर सोनेको भी मल सहित समझ लेता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मल लोहेमें ही होता है; सुवर्णमें नहीं। उसी प्रकार यह शरीर ही मलिन है। आत्मा मलिन नहीं है। परन्तु अज्ञानी जीव पवित्र आत्माको भी मल सहित अथवा सदोष मान लेते हैं। यह केवल उनकी भूल है।

आगे शरीरकी अपवित्रता दिखलाते हैं।

स्वस्यान्यस्यापि देहोयं बहिः शोभामनोहरः।
मध्ये मीमांस्यमानः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥ ३६ ॥

अर्थ—अपना अथवा दूसरेका सबका यह शरीर केवल बाहिरकी शोभासे सुंदर दिखाई पडता है। यदि इसकी भीतरकी अवस्थापर विचार किया जाय तो बरगद अथवा गूलरके समान अत्यंत घृणा करने योग्य और इसीलिये त्याग करने योग्य निश्चित हो जाता है।

भावार्थ—बरगद अथवा गूलर बाहिरसे बहुत सुंदर दिखाई पडते हैं। परंतु उनके भीतर असंख्यात कीडे भरे रहते हैं जिन्हें देखते ही

घृणा और छोडने की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार यह शरीर भी बाहर के चमडेसे कुछ अच्छा जान पडता है। परंतु इसके भीतर सिवाय मल मूत्र हड्डी मांस रुधिर आदिके और कुछ नहीं है। इन मांस रुधिर आदि मलके सामने शरीरपर जमा हुआ पसीना धूलि मिट्टी आदिका मल कुछ भी नहीं है। परंतु फिर भी अज्ञानी जीव इस शरीर की भीतरी अवस्थापर कुछ विचार न करके केवल बाहरी मलसे ही घृणा करने लग जाते हैं। और वह घृणा यहांतक बढ जाती है कि उस शरीरमें रहने वाले पवित्र और रत्नत्रय आदि सर्वोत्कृष्ट गुणोंसे सुशोभित आत्माको भी अपवित्र और मल सहित समझने लगता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह उसकी अज्ञानता वा अजानकारी है और कुछ नहीं है।

आगे मिथ्यादर्शनप्रशंसा नामके दोषको कहते हैं।

महामंत्रं महाविद्यां महाशीलं महाव्रतम्।
मिथ्यादृशां न शंसंति बोधसंविद्धदर्शनाः॥ ३७॥

अर्थ—जिनका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे सुशोभित है ऐसे भव्य जीव मिथ्यादृष्टियोंके महामंत्र, महाविद्या, महाशील और महाव्रत आदि किसी की प्रशंसा नहीं करते हैं।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टियों के मंत्र, विद्या, शील और व्रत आदि सब मिथ्या ही होते हैं क्योंकि उनसे मिथ्यात्व की पुष्टि होती है इसलिये वे कभी प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते। विद्या शील व्रत आदि वे ही प्रशंसनीय कहे जासकते हैं जो मोक्षमार्गके सहायक हैं अथवा मोक्ष प्राप्त होने के साधन हैं। सम्यग्दृष्टी स्वयं मोक्ष मार्गमें लगा है। वह ऐसे ही व्रत शील मंत्र विद्या आदि की प्रशंसा कर सकता है जो सम्यक् हों— मोक्ष मार्गके सहायक हों। जो मंत्रादिक मिथ्यात्वके कारण हैं और इसी लिये जो संसार परंपराके कारण हैं उनकी प्रशंसा सम्यग्दृष्टी कभी नहीं कर सकता।

आगे इसी बातको उदाहरणपूर्वक दिखलाते हैं।

यथा तुंबीफले न्यस्तं पयोऽपेयं भवेद् ध्रुवम् ।
तथा सर्वं तपः शीलं मिथ्यात्वविषदूषितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कडवी तुंबीमें रक्खा हुआ दूध पीने योग्य नहीं रहता- वह अवश्य ही फेंकदेने योग्य हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित तप शील आदि भी सब त्याग करने योग्य वा व्यर्थ हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कडवी तुंबीमें रक्खे हुए दूधको पीनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्वके साथ होनेवाले तप शील आदिसे भी संसारपरंपराके ही दुःख भोगने पडते हैं। उस तप शीलसे आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता और इसी लिये वह कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकता।

वहिर्वहिर्महारम्या मिथ्यात्वमतसम्पदः ।
पश्यतामन्तरं वस्तुशून्या बुद्बुदसन्निभाः ॥ ३९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियोंके मतमें प्राप्त होनेवाली संपदाएं बाहरसे ही मनोहर दिखाई पडती हैं। यदि उनकी भीतरी अवस्था देखी जाय तो निश्चय हो जाता है कि वे सब संपदाएं वास्तविकतासे खाली हैं और जलके बुद्बुदके समान क्षण भर ही ठरनेवाली हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार जलका बुद्बुदा ऊपरसे तो सुंदर दीखता है परंतु उसके भीतर कुछ नहीं है—वह भीतरसे खाली ही होता है और अधिक देर तक वह ठहर भी नहीं सकता—क्षणभरमें ही नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके मतमें प्राप्त होनेवालीं संपदाएं ऊपरसे ही अच्छी जान पडती हैं—उनके भीतर कुछ सार नहीं है और न वे अधिक देर तक ठहर सकती हैं। उनमें इतनी विशेषता है कि वे अज्ञानी जीवोंको आत्मकल्याणसे विमुख कर देती हैं और आत्मकल्याणसे विमुख हो कर वे प्राणी फिर सदाके लिये संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं और नरक निगोदादिके दुःख भोगा करते हैं। इसी लिये वे संपदाएं

भी प्रशंसाके योग्य नहीं कही जा सकती ।

आगे मिथ्यादृष्टियोंके मतको दिखलाते हुए कहते हैं ।

विषद्रुमफलप्रायं बहिःशोभामनोहरम् ।
महामोहलतामूलं मतं मिथ्यादृशां मतम् ॥ ४० ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियोंका मत केवल बाहरसे ही सुंदर जान पडता है । परंतु वास्तवमें देखा जाय तो वह विषवृक्षके फलके समान दुःखदायी है । और महामोहरूपी लताका वह मूल है ।

भावार्थ—आत्माका कल्याण करनेवाला आत्माके वैभाविक भावोंका त्याग है । इस संसारमें क्रोध मान माया लोभ मद मत्सर काम आदि आत्मा के विकार ही आत्माको दुःख देनेवाले हैं और इस अज्ञानी आत्माको नरक निगोद में पटकनेवाले हैं । इसलिये इन विकारोंके त्यागसे ही आत्माका कल्याण होसकता है । परंतु इन विकारों के त्याग करनेका उपदेश किसी भी दर्शनमें नहीं है । ये सब विकार आत्मा के शुद्ध गुणके घात करनेवाले हैं । इसलिये इनके प्रगट होनेसे हिंसा होती है । और हिंसाका सर्वथा त्याग करदेना ही धर्म है । यह बात भी किसी दर्शनमें नहीं है । अन्य दर्शनोंमें केवल सांसारिक सुखोंका वर्णन है इसीलिये वे बाहरसे अच्छे जान पडते हैं । और संसारी जीव उनमें जल्दी लुभा जाते हैं । अन्य दर्शन केवल इतना ही उपदेश देकर चुप नहीं हो जाते । किंतु यज्ञ यागादिकमें जीव वध का उपदेश देकर अथवा मांसभक्षण मद्यसेवन आदिकी साक्षात् आज्ञा देकर जीवोंसे घोर पाप कराते हैं । जिससे उन जीवोंको फिर अनंत काल तक नरक निगोदादिके दुःख भोगने पडते हैं । इसीलिये ग्रंथकारने अन्य दर्शनोंको विषवृक्षकी उपमा दी है । विषवृक्षका फल ऊपरसे अच्छा जान पडता है । परंतु उसके खाने से प्राणनाश अवश्य होता है । उसी प्रकार अन्य दर्शनोंके सेवन करनेसे पहिले सेवन करते समय तो कुछ अच्छा जान पडता है । परंतु अंतमें उन पापोंका फल भोगना ही पडता है । इसके सिवाय ग्रंथकार ने

अन्य दर्शनोंको मोहरूपी लताकी जड बतलाया है। जिस प्रकार जडके रहनेपर बहुतसी लता फैल जाती है उसी प्रकार अन्य दर्शनों के पालन करनेसे मोह बढता ही जाता है। क्योंकि उनमें मोहके त्याग करनेका उपदेश नहीं दिया जाता। और विना मोहके त्यागके आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये अन्य दर्शनोंके पालन करते हुए आत्माको मोक्ष मिल नहीं सकता। अतएव मोक्ष प्राप्त करनेवाले भव्य जीवोंको जैनधर्मकी ही शरण लेनी चाहिये। धर्म सब जीवोंका कल्याण करनेवाला है और इसीलिये वह मोक्षका सुख देनेवाला है।

आगे अन्य धर्मकेलिये और भी कहते हैं।

श्रौतबुद्धशिवाम्नाया मधुमांसासवाश्रयाः।
सुधिया न प्रशस्यंते ब्रह्मतत्त्वेपि संस्थिताः॥ ४१॥

अर्थ—वेदांतमत, बौद्धमत और शैवमत आदि अन्य मत मधु मांस तथा मद्य आदि पदार्थोंके आश्रय हैं। इसलिये उन मतोंको धारण करने वाले बुद्धिमान लोग चाहे आत्म तत्व तक भी पहुंच जांय तो भी वे प्रशंसनीय नहीं कहलाते।

भावार्थ—वेदोंमें शहतको अमृत माना ही है। बौद्ध मतमें मांसका प्रचार है ही। और शैव मतमें मद्यका प्रचार है ही। भला जिन मतोंमें मांस मधु मद्य आदि पदार्थोंका सेवन करना अच्छा समझा जाता है उनसे आत्माका कल्याण किस प्रकार हो सकता है। प्रथम तो ऐसे मतोंकी क्रियाओंको पालन करता हुआ कोई मनुष्य ब्रह्म तत्त्व तक पहुंच नहीं सकता। और कदाचित् कोई पहुंच जाय अथवा उन मतोंमें भी आत्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन हो तो भी वे मत प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते। इसका भी कारण यह है कि मांसादिकका सेवन करता हुआ कोई भी मनुष्य आत्म तत्त्व तक नहीं पहुंच सकता और इस प्रकार उन मतोंसे कोई भी लाभ नहीं उठा सकता। उन मतोंमें मांसादिकका सेवन करता हुआ वह अनंत पापका उपार्जन करेगा और उस पापके कारण

अनंत काल तक ही उसे नरकादिकके घोर दुःख सहन करने पड़ेंगे। इस प्रकार ये अन्य मत आत्माको दुःख देनेवाले हैं सुख देनेवाले नहीं इसीलिये ये त्याज्य वा अप्रशंसनीय हैं।

इस प्रकार ग्रंथकारने शंका दोषको दिखलाकर और उसका त्याग कराकर निःशंकित अंगका स्वरूप बतलाया है। आकांक्षा दोष दिखला कर और उसका त्याग कराकर निःकांक्षित अंगका उपदेश दिया है। विनिंदा दोषको त्याग कराकर निर्विचिकित्सा अंगको पालन करनेकी आज्ञा दी है और अन्यदृष्टिप्रशंसा दोषका त्याग कराकर अमूढदृष्टि अंग बतलाया है। इस प्रकार चार अंगोंका स्वरूप बतलाकर बाकीके चार अंगोंका स्वरूप कहते हैं।

आगे पांचवें अंगको दिखलाते हैं।

रत्नत्रये तदाधारे धर्मे धर्मस्थितेऽथवा।
दैवाद्दोषं समायातं पिधत्ते यः सुदर्शनः ॥ ४२ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनमें सम्यग्ज्ञानमें सम्यक्चारित्रमें अथवा इन तीनोंको धारण करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंमें, अथवा—उत्तम क्षमादिक किसी अन्य धर्ममें वा उस धर्मको धारण करनेवाले किसी धर्मात्मामें अकस्मात् कोई दोष लग जाय तो सम्यग्दृष्टी पुरुष उसे प्रगट नहीं करते।

भावार्थ—रत्नत्रय वा उत्तम क्षमादिक अन्य धर्म सब स्वयं पवित्र और निर्दोष हैं-इनमें किसी प्रकारका कोई दोष नहीं है। यदि किसी बालक वा अज्ञानी जनके आश्रयसे इनमें अकस्मात् कोई दोष लग जाय तो भी सम्यग्दृष्टियोंको उसे छिपादेना ही चाहिये। इसका भी कारण यह है कि वह दोष अज्ञानतासे हुआ है। वह दोष उस गुणका नहीं है। यदि वह दोष उस गुणका प्रगट किया जायगा तो उस प्रगट करनेवालेको मिथ्यात्व वा झूटका दोष आवेगा क्योंकि वह गुण तो सर्वथा निर्दोष था। निर्दोष गुणमें दोष लगाना मिथ्यात्व वा झूठ ही है। इसलिये रत्नत्रय वा रत्नत्रयको धारण करनेवाले धर्मात्माओंमें अकस्मात् किसी दोषके लग

जाने पर उसे प्रगट न होने देना उपगूहन अंग कहलाता है। और यह सम्यग्दर्शनका पांचवां अंग है।

आगे ऐसे दोषोंको प्रगट करनेवालेका उदाहरण देकर दिखलाते हैं।

सावित्रीव स्वपुत्रेषु योपराधं न बाधते ।
दैवात्प्रमादात् संभूतं साधूनां सोधमः पुमान् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सावित्रीने अपने पुत्रोंका अपराध छिपाया था उसी प्रकार जो पुरुष अकस्मात् अथवा प्रमादसे उत्पन्न हुए साधुओंके दोषोंको नहीं छिपाता उसे नीच पुरुष समझना चाहिये ।

भावार्थ—ऊपर कह चुके हैं कि दोष अज्ञान वा प्रमादसे होते हैं और अज्ञान वा प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रगट करनेसे केवल प्रगट करनेवाले की मूर्खता प्रगट होती है। क्योंकि वे दोष वास्तविक नहीं होते। इसलिये ऐसे दोषोंको कभी प्रगट नहीं करना चाहिये।

आगे इसी बातको और उदाहरण देकर समझाते हैं।

बालिशस्यापराधेन मलिनं स्यान्न शासनम् ।
नहि मीने मृते याति पयोधिः पूतिपूरताम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक मछलीके मरनेसे समुद्र गंदा नहीं होता उसी प्रकार किसी बालक वा अज्ञानी पुरुषके अपराधसे शासन कभी मलिन नहीं हो सकता।

भावार्थ—भगवान अरहंतदेवका कहा हुआ जिनशासन स्वयं शुद्ध है वह तो किसी भी प्रकार मलिन वा अपवित्र नहीं होसकता। इसलिये किसी बालक वा अज्ञानी जनके आश्रयसें होने वाली निंदाको कभी प्रगट नहीं करना चाहियें। यह सम्यग्दर्शनका पांचवा उपगूहन नामका अंग है।

आगे स्थितीकरण अंगको दिखलाते हैं।

परीषहाद् व्रताद्भीतमप्राप्तश्रुतसम्पदम् ।
धर्माद् भ्रृस्यन्मतिं साधुं पुनस्तं तत्र रोपयेत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो साधु परीषह अथवा व्रतोंसे भयभीत होगया है और जिसने शास्त्ररूपी संपत्ति कभी प्राप्त नहीं की है ऐसे धर्मसे भ्रष्ट होते हुए साधुको फिर उसी व्रतमें स्थापन करना स्थितिकरण अंग कहलाता है ।

भावार्थ—जो मुनि वा गृहस्थ किसी भी कारणसे सम्यग्दर्शन वा सम्यक् चारित्रसे च्युत होता हो तो उसे समझा बुझाकर वा जिस तरह बने उसी तरह फिर उसी सम्यग्दर्शन वा सम्यक् चारित्रमें स्थिर करना चाहिये। यह सम्यग्दर्शनका छट्ठा अंग है ।

जो स्थितीकरण नहीं करता उसके सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता ऐसा आगे दिखलाते हैं ।

भ्रस्यन्तं तपसो दैवात् यो न पातीह संयतम् ।
सद्दर्शनबहिर्भूतः शासनस्थितिलोपनात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—यदि कोई मुनि किसी दैवयोगसे तपश्चरण से भ्रष्ट होता हो और फिर भी उसे अन्य कोई धर्मात्मा न रोके—उसे उसी तपश्चरणमें स्थिर न करे तो उस स्थिर न करनेवाले को भी सम्यग्दर्शनसे अलग ही समझना चाहिये । इसका भी कारण यह है कि उसने उसे स्थिर रखकर शासनको स्थिर नहीं रक्खा और इस प्रकार शासनकी स्थिरताका लोप कर दिया ।

भावार्थ—तपश्चरणसे भ्रष्ट होनेवालेको अवश्य स्थिर करना चाहिये । भ्रष्ट होनेवालेको स्थिर न करना मोक्षमार्गकी मर्यादाका लोप करना है । इसीलिये वह सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट समझा जाता है । अतएव भ्रष्ट होनेवालेको रोकना और उसे फिर सम्यग्दर्शन वा सम्यक् चारित्रमें स्थिर करना सम्यग्दर्शनका स्थितिकरण नामका छट्ठा अंग कहलाता है ।

आगे रत्नत्रयको स्थिर करनेका उपाय बतलाते हैं ।

शिष्यैः संदेहनिर्वाहैरपि संवर्द्धयेन्मतम् ।
बहुमत्ये भवेन्नूनं रत्नत्रयधरोऽपरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अनेक शिष्योंके सब संदेह दूर कर अपने मतकी वृद्धि

अवश्य करनी चाहिये क्योंकि अनेकोंमें कोई न कोई रत्नत्रयको धारण कर लेता ही है।

भावार्थ—अनेक शिष्योंको उपदेश देकर और उनके सब संदेह दूर कर इस पवित्र जैन शासनमें लगाना चाहिये। और इस प्रकार इस शासनकी वृद्धि करनी चाहिये। क्यों कि यदि अनेक शिष्योंको समझाया जावेगा और उनके सब संदेह दूर कर निश्चय कराया जावेगा तो उनमें से थोडे बहुत रत्नत्रयको धारण करनेवाले अवश्य ही निकल आवेंगे। यह भी मोक्षमार्गकी वृद्धि करनेका एक कारण है। इसलिये शिष्योंका संदेह अवश्य ही दूर करते रहना चाहिये। अथवा 'शिष्यसंदोहनिर्वाहैः' ऐसा भी पाठ है। और यह पाठ बहुत अच्छा है। इसका अर्थ यह है कि अनेक शिष्यसमूहोंका निर्वाह करके भी अपने मतकी वृद्धि करनी चाहिये क्यों कि अनेक शिष्योंमें कोई न कोई रत्नत्रयको धारण कर ही लेगा।

भावार्थ—इस पवित्र जैनधर्ममें पवित्र अहिंसामय धर्मका उपदेश देकर अनेक नवीन शिष्य उत्पन्न करना चाहिये। उन शिष्योंका निर्वाह करना चाहिये—पालन पोषण करना चाहिये। और इस प्रकार शिष्यों-का समुदाय बढाकर मतकी वृद्धि करनी चाहिये। क्योंकि यदि बहुतसे शिष्य होंगे तो उनमेंसे कोई न कोई रत्नत्रयको धारण कर आत्म कल्याण अवश्य कर लेगा। इस प्रकार जीवोंके आत्म कल्याण करानेका और उन्हें अनुपम सुख पहुंचानेका यह सहज उपाय है।

आगे इसी बातको पुष्ट करते हैं।

यतः शासनसाध्योर्थो नानाशिष्यसमाश्रयः।
ततः संबोध्य यो यत्र साधुस्तं तत्र रोपयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—पहले यह जो बता चुके हैं कि शिष्योंका संदेह दूर कर शासनकी वृद्धि करनी चाहिये इसका भी कारण यह है कि शासनसे वा जैन धर्मसे जो कार्य सिद्ध करना चाहते हैं वह अनेक शिष्योंके आश्र-

यसे ही हो सकता है। इस लिये उनको समझा बुझा कर जो निपुण है उसको उसीमें स्थापन कर देना चाहिये।

भावार्थ—जिनशासन वा जैन धर्मका मुख्य कार्य आत्मकल्याण करना है। संसारी समस्त जीव कर्मोंकी परवशताके कारण अत्यंत दुःखी हो रहे हैं। वे मोक्ष मार्गमें लगकर कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर अनंत सुखको प्राप्त करलें यही जिनशास्त्रका ध्येय है। यह ध्येय जितने अंशमें अधिक सफल होता जायगा उतनी ही जैन शासनकी वृद्धि समझनी चाहिये। जैन शासन कहता है "शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः। दोषाः पयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः" अर्थात् "समस्त संसारका कल्याण हो, समस्त प्राणी दूसरोंके कल्याण करनेमें तत्पर हो जांय, दोष सब नष्ट हो जांयें और सब जगहके लोग सब सुखी हो जांय"। जैन शासनका यह ध्येय तभी सफल हो सकता है जब कि ऐसा करनेके लिये—इस उपदेशपर चलनेके लिये सब मनुष्य तैयार हो जांय। यदि इस संसारमें सभी प्राणी एक दूसरेको सुख पहुंचनेमें तत्पर हो जांय तो सहजमें ही सबका भला हो सकता है। इस लिये ऐसी भावना रखनेवाले शिष्योंकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये। तथा ऐसी भावना रखनेवाले शिष्य यदि अपने सम्यग्दर्शन वा सम्यक् चारित्र गुणसे डिगते हों तो उन्हें उसीमें स्थापन करना चाहिये। मोक्ष मार्गकी वृद्धिका यह सबसे सहज उपाय है।

आगे स्थितिकरण न करनेसे हानि बतलाते हैं।

बालः शिष्योऽन्यथा नूनं तथा दूरतरोपयेत्।
ततस्तस्य भवोऽनन्तः समयोऽपि निहीयते ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि स्थितिकरण अंगका पालन न किया जायगा तो बालक अथवा अज्ञानी शिष्य अवश्य ही इस मोक्षमार्गसे बहुत दूर हट जांयगे और फिर उन शिष्योंको अनंत भवतक इस घोर संसारमें परिभ्रमण करना पड़ेगा तथा इस प्रकार मोक्षमार्गमें भी हानि पहुंचेगी।

भावार्थ--मोक्षमार्ग वा रत्नत्रयसे च्युत होनेवालोंको फिर उसी मार्गमें वा उसी धर्ममें अवश्व स्थापन करना चाहिये। मान लीजिये कि कोई मनुष्य रत्नत्रयको छोड रहा है और उसे उसीमें स्थापन करनेका उपाय नहीं किया जाता तो इसका फल यह होगा कि उस अज्ञानीको रत्नत्रयके छोड देनेसे इस संसारमें अनंत कालतक परिभ्रमण करना पडेगा और अनंत काल तक नरक निगोदादिके दुःख भोगने पडेंगे। इस प्रकार पहिली हानि तो यह होगी तथा दूसरी हानि यह होगी कि मोक्ष मार्गमें चलनेवाले जीवोंमें से कम हो जांयगे। यदि उसको फिर उस रत्नत्रयमें स्थापन कर दिया जाता तो वह अनंत कालके दुःखोंसे बचता और मोक्षमार्गमें लगकर शीघ्र ही आत्मकल्याण करलेता तथा मोक्षमार्गका उपदेश देकर अन्य कितने ही जीवोंको मोक्षमार्गमें लगा लेता। इसलिये रत्नत्रयसे डिगनेवालोंका अवश्य ही स्थिरीकरण करना चाहिये इससे मोक्षमार्गकी खूब ही वृद्धि होती है।

आगे प्रभावना अंगको कहते हैं।

निरवद्यैर्महादानैस्तपोभिर्भुवनोत्तमैः।
विद्याभिर्विश्ववन्द्याभिर्विदधीत प्रभावनाम् ॥ ५० ॥

अर्थ--निर्दोष महा दान देकर तथा संसारमें उत्तम तपश्चरण कर और संसार भरके द्वारा पूज्य ऐसी विद्याओंके द्वारा जिनशासनकी प्रभावना अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थ--जिन जिन कार्योंसे जैनधर्मकी प्रशंसा हो और जिनशासन की वृद्धि हो ऐसे काम कर प्रभावना अंग अवश्य बढाना चाहिये। वह जिनशासनकी प्रशंसा प्रथम तो दान देनेसे होती है। दान निर्दोष होना चाहिये। यदि वह दान मिथ्यात्वको बढानेवाला हो, यदि उस दानका फल पवित्र मोक्ष मार्गका घात करनेवाला हो, यदि उस दानका फल जैन सिद्धांतके विरुद्ध हो तो वह दान नहीं किंतु कुदान है। निर्दोष दान वही है जिससे मोक्ष मार्गमें सहायता मिले और जैन शासनकी

वृद्धि हो। ऐसा ही दान देकर जैन शासनकी प्रभावना करनी चाहिये। इसी प्रकार कठिन कठिन तपश्चरण करके भी प्रभावना करनी चाहिये। वह तप सम्यग्ज्ञान पूर्वक होना चाहिये तथा रत्नत्रयधर्म को बढानेवाला होना चाहिये। जो तप अज्ञानता पूर्वक किया जाता है जिसमें विषय कषायोंका त्याग नहीं होता वह तप मिथ्या तप है। ऐसे मिथ्या तपसे मोक्षमार्ग की वृद्धि नहीं होती किंतु संसारकी वृद्धि होती है। इसलिये। सम्यग्ज्ञान पूर्वक तपश्चरण धारण कर जिन शासनकी प्रभावना करनी चाहिये। इसीतरह विद्याका प्रकाश करके भी प्रभावना करनी चाहिये। परंतु वे विद्याएं सम्यक् होनी चाहिये। यदि वे विद्याएं कुविद्याएं हों तो उनसे आत्म कल्याण नहीं होता, उनसे उलटा आत्मघात होता है। तथा ऐसी कुविद्याएं सबको अच्छी भी नहीं लगती सबके द्वारा पूज्य वे ही विद्याएं गिनी जाती हैं जो अपने आत्माका कल्याण करती हुई संसार भरके जीवोंका कल्याण करें ऐसी ही विद्याएं मोक्षमार्ग की सहायक और जिनशासनकी वृद्धि करनेवाली होती हैं इसलिये ऐसी जगत्पूज्य विद्याओंसे ही जैन शासनकी प्रभावना करनी चाहिये। इस प्रकार निर्दोष दान, उत्तम तपश्चरण और जगत्पूज्य विद्याओंके द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना प्रत्येक मनुष्यको करनी चाहिये यह मनुष्यमात्रका एक कर्तव्य है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यह कर्तव्य पालन करना चाहिये।

आगे इसी विषयको और भी लिखते हैं।

प्रासादप्रतिमाधर्मैर्महामहमहोत्सवैः।
दर्शनद्योतनं साधुर्विदधातु महामनाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—उदार गृहस्थोंको जिनेंद्र भगवान्के भवन जिनप्रतिमा और महामह महोत्सव आदिके द्वारा जिनशासनका उद्योत करना चाहिये।

भावार्थ—जिनभवन बनवाने और उनमें जिन प्रतिमा विराजमान करनेसे परंपराके लिये धर्म की वृद्धि होती है। जबतक वह धर्मायतन बना रहेगा तब तक बराबर भव्य जीव उसके द्वारा धर्मसेवन करते रहेंगे।

इसलिये जिन भवन बनवाकर तथा जिन प्रतिमा विराजमान कर प्रभावना करनी चाहिये। इसके सिवाय महामह यज्ञ, पूजा, प्रतिष्ठा रथोत्सव आदिके द्वारा भी प्रभावना करनी चाहिये। जिस महा उत्सवको मुकटबद्ध राजा करते हैं उसे महामह यज्ञ कहते हैं। इसको देखकर भी अन्यधर्मी जन आश्चर्य करते हुए जैनधर्ममें श्रद्धान करने लग जाते हैं। इस प्रकार ये सब कार्य धर्मकी वृद्धि करने वाले हैं इसलिये सम्यग्दर्शनके अंग हैं और प्रभावना अंगके नामसे कहे जाते हैं।

आगे कहते हैं कि रत्नत्रयकी निंदा करनेवाले—उससे ईर्षा या द्वेष रखनेवालेसे रत्नत्रय भी ईर्षा रखता है।

बोधे तपसि सन्माने यतीनां यस्तु मृष्यति।
रत्नत्रयमहासम्पन्नूनं तस्याप्यसूयति॥ ५२॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान तपश्चरण और मुनियोंके आदर सत्कार करनेमें जो ईर्षा करता है यथायोग्य रीतिसे आदर सत्कार नहीं करता उससे रत्नत्रयरूपी महासंपदा भी अवश्य ही ईर्षा करती है।

भावार्थ—जो रत्नत्रयसे ईर्षा करता है—उसको धारण नहीं करता उसका आदर सत्कार नहीं करता उसके पास न तो रत्नत्रय रूपी संपदा ही आती है और न रत्नत्रयसे प्राप्त होने वाले उत्तमोत्तम फल प्राप्त होते हैं वह जीव फिर सदा नरक निगोद आदिके अनेक दुःख भोगा करता है इसीलिये रत्नत्रयको धारण करने वालोंसे कभी ईर्षा द्वेष नहीं करना चाहिये। सदा उन्हें पूज्य दृष्टिसे देखना चाहिये और सदा उनका आदर सत्कार करते रहना चाहिये।

आगे वात्सल्य अंगको कहते हैं।

सद्भावो भावना श्रद्धा सन्मानं सुविधेयता।
सधर्मसु यथाशक्त्या तद्वात्सल्यं सतां मतम्॥ ५३॥

अर्थ—भगवान अरहंत देवके कहे हुए इस जैन धर्मके धारकोंमें अपनी शक्तिके अनुसार भावना रखना उसकी वृद्धिके परिणाम रखना, श्रद्धा र-

खना, सब तरहसे उसका आदर सत्कार करना और उसमें कही हुई क्रियाओंका अनुष्ठान करना वात्सल्य अंग कहलाता है।

स्वाध्याये संयमे धर्मे मुनौ वा धर्मबान्धवे।
प्रतिपत्तिस्त्रिधाप्राहु विंनयं विनयान्विताः ॥ ५४ ॥

अर्थ—विनयको धारण करनेवाले आचार्य स्वाध्याय, संयम, धर्म, मुनि, वा धर्मात्मा भाइयोंके मन वचन कायसे आदर सत्कार करनेको विनय कहते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय करना, शास्त्रोंको विनय पूर्वक विराजमान करना उनको विनय पूर्वक उच्चासनपर विराजमान कर पढना तथा स्वाध्याय करनेवालोंका आदर सत्कार करना स्वाध्यायकी विनय कहलाती है। संयम धारण करना, अथवा संयमी मुनियोंका आदर सत्कार करना संयम की विनय है। धर्मको धारण करना और मुनि वा धर्मात्मा भाइयोंका आदर सत्कार करना धर्म मुनि वा धर्मात्माओंकी विनय कहलाती है। यह सब तरहकी विनय मन वचन काय तीनोंसे होनी चाहिये। इस प्रकारकी विनय करनेको ही वात्सल्य अंग कहते हैं। जिनके आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण विराजमान रहता है उन्हींसे इस वात्सल्य अंगका पालन होता है अन्य किसीसे नहीं।

आगे इसी वात्सल्य अंगके और भी प्रकार बतलाते हैं।

व्याध्यादिना निरुद्धस्य निरवद्यो विधिर्महान्।
विधेयो धर्मताधारैरौषधाद्यैः स्ववस्तुभि ॥ ५५ ॥

अर्थ—यदि कोई मुनिराज वा अन्य धर्मात्मा जन किसी रोगसे पीडित हों अथवा उनके पास पीछी कमंडलु धर्मशास्त्र आदि धर्मके उपकरण न हों तो धर्मात्मा गृहस्थोंको औषधि पीछी कमंडलु शास्त्र आदि धर्मको बढानेवाले अपने पदार्थ निर्दोष और उत्कृष्टविधिपूर्वक देकर वात्सल्य अंगका पालन करना चाहिये।

भावार्थ—जिसके हृदयमें धर्मप्रेम होता है वही धर्मात्माओंसे प्रेम

कर सकता है। जिसके हृदयमें धर्मप्रेम नहीं है वह कभी भी धर्मात्माओंसे प्रेम नहीं कर सकता। धर्मात्माओंसे प्रेम करना ही वात्सल्य गुण है। धर्मप्रेम होनेसे ही सम्यग्दृष्टी पुरुष आहार औषध आदि दान दे सकता है और वैयावृत्य कर मुनियों के अनेक दुख दूर कर सकता है। इसलिये प्रत्येक धर्मात्माको वैयावृत्य कर वात्सल्य अंगका पालन अवश्य करते रहना चाहिये।

आगे वैयावृत्य करनेके लिये और भी उपदेश देते हैं।

दानमानविधानेन यतः श्रुतमहत्तमे।
सूरौ श्रुतधरे वृद्धे वैयावृत्यं विधीयताम्॥ ५६॥

अर्थ—अनेक प्रकारके तपश्चरणको धारण करनेवाले आचार्य, पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले उपाध्याय और परम पूज्य वृद्ध मुनियोंको विधिपूर्वक दान देकर तथा उनका आदर सत्कार कर वैयावृत्य करना चाहिये।

भावार्थ—आचार्य उपाध्याय तपस्वी शैक्ष्य ग्लान गण कुल संघ साधु और मनोज्ञ ऐसे दश प्रकारके मुनि होते हैं। जिनसे अन्य सब मुनि दीक्षा लें उन्हें आचार्य कहते हैं। जो सबको पढावें उन्हें उपाध्याय कहते हैं। अनेक उपवास आदि करनेवालोंको तपस्वी कहते हैं। शिक्षा ग्रहण करने योग्य मुनियोंको शैक्ष्य कहते हैं। रोगी मुनियोंको ग्लान कहते हैं। वृद्ध मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं। आचार्योंकी शिष्य परंपराको कुल कहते हैं। ऋषि, यति, साधु, और तपस्वी इन चारो प्रकार के मुनियोंके समुदायको संघ कहते हैं। बहुत दिनके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं। और जो विद्वान् हो, वक्ता हो, महाकुलीन हो तथा इसीलिये जो सबको पसंद हो उसको मनोज्ञ कहते हैं। इन दश प्रकारके मुनियोंकी टहल चाकरी सेवा शुश्रूषा आदि करना वैयावृत्य कहलाता है। सम्यग्दृष्टीको यह वैयावृत्य अवश्य करना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो वैयावृत्य करनेसे ही वात्सल्य अंग प्रगट होता है।

आगे वैयावृत्यकी प्रशंसा करते हैं।

सर्वस्य शासनस्यापि वित्तैर्वा वपुषाथवा।
वैयावृत्यं विधत्ते यः स धत्ते शिवसम्पदम् ॥ ५७ ॥

अर्थ जो पुरुष अपने धनसे अथवा अपने शरीरसे इस समस्त जैन शासनका वैयावृत्य करता है वह मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्राप्त होता है।

भावार्थ—मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका आदि सब जैन धर्म के अंग हैं। इन सबकी वैयावृत्य करनी चाहिये। वैयावृत्य करना अंतरंग तप है। जिसके हृदयमें देव शास्त्र गुरुकी गाढ श्रद्धा होती है—गाढ धर्म प्रेम होता है उसीसे सेवा शुश्रूषा बन सकती है। इसलिये ऐसे सम्यग्दृष्टी पुरुषको मोक्ष लक्ष्मी अवश्य मिलनी चाहिये इसमें किसी प्रकारका संदेह ही नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका निरूपण हो चुका।

अब आगे सम्यग्दर्शनके भेद दिखलाते हैं।

प्रतिबंधशमात्पूर्वं द्वितीयं तस्य नाशनात्।
मिश्रान्मिश्रं तृतीयं स्याद्दर्शनं त्रिविधं मतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये प्रकृतियां सम्यग्दर्शनकी घातक हैं। इन सातों प्रकृतियों के उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन होता है। तथा इन सातों प्रकृतियों के अत्यंत नाश होजानेपर क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इन सातों प्रकृतियोंमें अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्व घाती हैं और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व देश घाती है। इन ऊपर लिखी सर्व घाती छह प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय होनेपर तथा उन्हीं सर्व घाती सत्तावस्थित प्रकृतियोंका उपशम होनेपर तथा देश घाती सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्वका उदय होनेपर क्षायोपशमिक अथवा मिश्र सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार औपशमिक क्षायिक और क्षायोपक्षमिक के भेदसे सम्यग्दर्शनके तीन भेद होते हैं।

आगे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारण बतलाते हैं।

भवेदासन्नभव्यस्य द्रव्यादिसमुदायतः ।
स्वभावादुपदेशाद्वा तत्त्वश्रद्धानमादिमम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि कारण सामग्रीके मिल जानेपर आसन्न भव्य जीवके जो स्वभावसे अथवा उपदेशसे यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान होता है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेमें मिथ्यात्वादिक सात प्रकृतियोंका उपशम तो अवश्य होना ही चाहिये। इन प्रकृतियोंके उपशम होनेको अंतरंग कारण कहते हैं। इस अंतरंग कारण के होते हुए जहां उपदेश आदि बाह्य कारण मिल जाता है और उससे जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह अधिगमज औपशमिक सम्यग्दर्शन कहलाता है। और जहां बाह्य कारण सामग्री न मिले केवल अंतरंग कारण के होनेसे ही सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाय उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन द्रव्य क्षेत्र काल भाव लब्धि आदि कारण सामग्रीके मिलनेसे ही होता है; और आसन्न भव्य वा निकट भव्य को ही होता है, अन्य किसीको नहीं।

आगे अनादि मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रगट होता है सो बतलाते हैं।

नवीनस्येव पात्रस्य दुर्वासितमहामतेः ।
श्रद्धानं स्यात्पदार्थानां भवस्मृत्यादिहेतुभिः ॥ ६० ॥

अर्थ—बडी कठिनतासे जिसकी बुद्धि निर्मल हुई है ऐसे नवीन पात्रके जातिस्मरण आदि कारणोंके द्वारा यथार्थ पदार्थोंका श्रद्धान होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार नवीन पात्रमें सुगंधित पदार्थोंकी भावना बडी कठिनतासे दी जाती है उसी प्रकार अनादि मिथ्यादृष्टीका आत्मा

बडी कठिनतासे निर्मल होता है। आत्माके निर्मल होनेपर यथासंभव जातिस्मरण, देवदर्शन, जिन महिमा दर्शन, देवोंकी ऋद्धियोंका दर्शन, और दुःखोंका अनुभव आदि बाह्य कारणोंके मिलनेपर तथा सम्यग्दर्शनकी घातक प्रकृतियोंके उपशम होनेपर यथार्थ पदार्थोंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होता है। यह औपशमिक सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आगे सम्यग्दर्शनके भेद दिखलाते हैं।

द्वेधा त्रेधाथवा प्राहुर्दशधा वा सुदर्शनम्।
तत्त्वश्रद्धैव सर्वत्र बहुभेदैः प्रदर्शिता ॥ ६१ ॥

अर्थः – इस सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं, तीन भेद हैं, अथवा दश भेद हैं। सम्यग्दर्शनके इन सब भेदोंमें पदार्थोंकी श्रद्धा ही अनेक प्रकारसे दिखलाई गई है।

भावार्थ निसर्गज और अधिगमज ये सम्यग्दर्शनके दो भेद पहिले दिखला चुके हैं। तथा औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं। ये भी पहले लिखे जा चुके हैं। इनके सिवाय आज्ञा सम्यग्दर्शन, मार्ग सम्यग्दर्शन, उपदेश सम्यग्दर्शन, सूत्र सम्यग्दर्शन, बीज सम्यग्दर्शन, संक्षेपसम्यग्दर्शन, विस्तार सम्यग्दर्शन, अर्थ सम्यग्दर्शन अवगाढ सम्यग्दर्शन और परमावगाढ सम्यग्दर्शन ऐसे सम्यग्दर्शनके दश भेद कहे जाते हैं। भगवान वीतराग अरहंत देवकी आज्ञाके अनुसार यथार्थ तत्त्वोंके श्रद्धान करनेवालेके आज्ञा सम्यक्त्व होता है। पुराणोंमें कहे हुए उत्तम पुरुषोंके जीवन चरित्रोंको सुनकर जो श्रद्धान किया जाता है उसे मार्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगमका उपदेश सुनकर जो श्रद्धान किया जाता है वह उपदेश सम्यग्दर्शन है। मुनि वा गृहस्थोंके आचरणोंको सूचित करनेवाले आचार सूत्रोंको सुनकर श्रद्धान करनेको सूत्रसम्यग्दर्शन कहते हैं। सार्थक अर्थको धारण करनेवाले बीजाक्षरोंको सुनकर तत्त्वश्रद्धान हो जानेको बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थोंके स्वरूपको संक्षेपसे ही

सुनकर श्रद्धान करनेको संक्षेप सम्यग्दर्शन कहते हैं। बारहों अंगों-को सुनकर पदार्थोंके श्रद्धान करनेको विस्तार सम्यग्दर्शन कहते हैं। शास्त्रोंके शब्दोंके विना ही केवल अर्थ समझकर श्रद्धान करनेको अर्थ सम्यग्दर्शन कहते हैं। बारह अंग और अंगबाह्य श्रुतज्ञानको पढकर जो श्रद्धान होता है वह अवगाढ सम्यग्दर्शन है। और केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके देखते हुये जो श्रद्धान होता है उसे परमावगाढ सम्य-ग्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके दश भेद हैं। इन सबमें तत्त्व श्रद्धान अवश्य है परंतु उस श्रद्धानके प्रगट होनेमें प्रकार अलग अलग हैं। उन प्रकारोंके भिन्न भिन्न होनेसे ही सम्यग्दर्शनके भेद हो गये हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो स्वात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन एक ही है। उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

आगे सम्यग्दर्शनके गुण–दोषोंको बतलाते हैं।

निर्वेदादिमनोभावैर्दर्शनं तत्प्रशस्यते।
तथानायतनैर्दोषः संदेहाद्यैर्विनश्यति ॥ ६२ ॥

अर्थः - वह सम्यग्दर्शन निर्वेद आदि मनके भावोंसे प्रशंसनीय गिना जाता है और शंका आदि दोषोंसे तथा अनायतन आदि दोषोंसे नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शनके अविनाभावी गुण गिने जाते हैं। परिणामोंका विषयकषायोंमें शिथिल होना प्रशम है। अथवा अपराधीकेलिये भी आत्मामें विकार न होने को प्रशम कहते हैं। धर्ममें उत्साह रखना अथवा परमेष्ठियोंमें प्रेम करना संवेग है। अभिलाषाओंके त्याग करनेको निर्वेद कहते हैं सब जीवोंमें मैत्री भाव रखना–अनुग्रह रखना किसीसे वैर भाव न करना अनुकंपा है। जीवादिक तत्त्वोंमें, धर्ममें, धर्मके कारणोंमें और धर्मके फलमें निश्चल बुद्धि रखनेको आस्तिक्य कहते हैं। ये सम्यग्दर्शनके अविनाभावी गुण हैं। सम्यग्दर्शनके साथ अवश्य

रहते हैं और इन्हींसे सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय वा उत्तम गिना जाता है। इनके सिवाय निःशंकित आदि आठ अंग, तीन मूढताओंका त्याग, छह अनायतनोंका त्याग और आठों मदोंका त्याग—ये पच्चीस भी सम्यग्दर्शन के गुण कहलाते हैं। शंका आदि आठ दोष तीन मूढता छह अनायतन आठ मद ये पच्चीस सम्यग्दर्शनके दोष कहलाते हैं। इनमेंसे सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका स्वरूप पहले कह चुके हैं। उनका न होना ही शंका आदि आठ दोष हैं, वे भी संक्षेपसे पहिले लिखे गये हैं। देवमूढता, लोकमूढता और गुरुमूढता ये तीन मूढताएं कहलाती हैं। किसी इच्छासे रागी द्वेषी देवोंकी उपासना करना देवमूढता है। धर्म समझकर नदी समुद्रमें नहाना, वालू पत्थरके ढेर लगाकर पूजना और धर्म समझकर पर्वत से गिर मरना वा अग्निमें जल मरना -लोक मूढता है। पाखंडी साधुओंका आदर सत्कार करना गुरुमूढता है। कुदेव कुशास्त्र और कुगुरु तथा इनके माननेवालोंकी प्रशंसा करना छह अनायतन हैं। ज्ञान, वडप्पन, कुल, जाति, वल, ऐश्वर्य, तप और शरीरका अभिमान करना—आठ मद हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके ये पच्चीस दोष हैं। इन दोषोंका त्याग कर ऊपर लिखे गुणोंको धारण करना ही सम्यग्दृष्टीका कर्तव्य है। क्योंकि गुणोंसे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है और दोषोंसे मलिन होता है अथवा नष्ट भी हो जाता है।

आगे शल्योंके त्याग करनेके लिये कहते हैं।

मायामिथ्यानिदानानि शल्यान्येतानि दर्शने।
मूलान्निर्मूलितान्येव परानन्दं वितन्वते ॥ ६२ ॥

अर्थ—माया मिथ्या निदान ये तीन शल्य कहलाती हैं। इनका जडसे नाश कर देनेसे ही आत्माको परम आनंदकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—छल कपट करनेको माया कहते हैं। विपरीत श्रद्धान करनेको मिथ्यात्व कहते हैं और आगामी भोगोंकी आकांक्षा करने को निदान कहते हैं। ये तीनों ही शल्य सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाली

हैं। इनके त्याग किये विना आत्माका वह सम्यक्त्वरूपी प्रकाश निर्मल नहीं हो सकता और विना उसके निर्मल हुए आत्माको उसका आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सम्यक्त्वमें उत्पन्न हुए परमानंदको प्राप्त करनेकेलिये तीनों शल्योंका त्याग अवश्य करदेना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनकी मुख्यता दिखलाते हैं।

दृशा हीनः स्वयं याति न यथा स्थानमीप्सितम्।
निर्दर्शनः पुमान् याति न तथा पदमीप्सितम् ॥ ६४ ॥

अर्थः— जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य अपने इष्ट स्थानको नहीं पहुंच सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित मनुष्य भी अपने इष्ट पदको नहीं पा सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार इष्ट स्थानपर पहुंचनेके लिये नेत्र कारण हैं उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सम्यग्दर्शन अवश्य कारण है। मोक्ष मार्गको दिखलानेवाला सम्यग्दर्शन ही है। इसके विना मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

आगे और भी सम्यग्दर्शनकी मुख्यता दिखलाते हैं।

व्रतस्थोपि वृथा बालो मंदसंदेहदर्शनः।
निर्व्रतोपि वरं भव्यो बोधसंविद्धदर्शनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव सम्यग्ज्ञानसे देदीप्यमान होनेवाले सम्यग्दर्शनको धारण करता है परंतु व्रत पालन नहीं करता वह उस व्यर्थही व्रत पालन करनेवाले अज्ञानीसे अच्छा है जो सम्यग्दर्शनमें भी संदेह रखता है।

भावार्थ—विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र सब व्यर्थ है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र–दोनोंकी जड है। ज्ञान चारित्र, सम्यग्दर्शनके होनेसे ही सम्यक् गिने जाते हैं। विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र दोनों ही मिथ्या हैं और इसी लिये संसारके कारण हैं। सम्यग्दर्शन अकेला ही सुमार्गको दिखला देता है। परंतु विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र दोनों

भी चारों गतियोंमें ढकेल देते हैं। इसलिये सबसे पहिले सम्यग्दर्शनको धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनके दोषों को त्याग करने के लिये कहते हैं।

सदोषं दर्शनं नैव भवभावं व्यपोहते।
ततो दोषं त्रिधा दूरे यत्नतः परिहापयेत्। ६६।

अर्थ---पहले कहे हुए दोषोंसे मलिन हुआ सम्यग्दर्शन सांसारिक दुःखोंको कभी दूर नहीं कर सकता इसलिये उन दोषों को प्रयत्नपूर्वक मन वचन काय तीनोंसे दूरसे ही छोडदेना चाहिये।

भावार्थ—दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शनसे ही संसारके दुख दूर होते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टीको उन दोषोंसे बचने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न करना चाहिये, और भरसक कोई भी दोष नहीं लगने देना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनकी महिमा दिखलाते हैं।

निर्दोषं दर्शनं यस्य निरयस्तस्य दूरतः।
पूर्वबद्धायुषां देवाद्यदि स्यात्प्रथमस्तदा। ६७

अर्थ---जिसके निर्दोष सम्यग्दर्शन होता है उसकी नरक गति सर्वथा छूट जाती है। कदाचित् जिनके सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके पहिले नरक आयुका बंध होगया हो तो उन्हें भी पहले ही नरकमें जाना पडेगा, आगे नहीं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी नरकायुका बंध कभी नहीं करता। जिस किसी सम्यग्दृष्टी के सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहले नरकायुका बंध होगया हो तो चाहे सातवें ही नरकका बंध क्यों न किया हो, वह पहले ही नरकमें जायगा। इसका कारण यह है कि आयुर्बंध छूटता नहीं। जिसने जिस आयुका बंध करलिया है उसे उसी आयुमें, उसी गतिमें अवश्य जाना पडेगा। परंतु स्थितिबंध कम हो जाता है। नरकायुका बंध करते हुए जिसने सातवें नरककी स्थिति बांधी थी उसकी स्थिति घटकर पहले नरककी हो जाती है। यह भी सम्यग्दर्शनका ही प्रभाव है। इसलिये यदि

नरक निगोदादिके दुखोंसे छूटना है तो सब पहिले सम्यग्दर्शन धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

सर्वस्त्रीहीनदेवत्वं पशुत्वं सर्वतस्तथा ।
दुःस्थत्वं व्याधिनिंद्यत्वं प्राप्यते न सुदर्शनैः ॥ ६८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव न तो किसी भी स्त्री पर्यायमें जाता है न भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क इन हीन देवोंमें उत्पन्न होता है, न पशु पर्याय पाता है, न दरिद्र होता है, न रोगी होता है और न और किसी तरह निंद्य अवस्थाको धारण करता है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन होनेके बाद फिर किसी प्रकारका दुःख प्राप्त नहीं हो सकता।

नरामरमहैश्वर्यं सर्वविद्यायशःश्रियः ।
सर्वप्रभुत्वसंपत्तिर्दर्शनादेव लभ्यते ॥ ६९ ॥

अर्थ— चक्रवर्ती आदि उत्तम मनुष्योंकी विभूति, इंद्रोंकी महा विभूति, सब प्रकारकी विद्या, यश, लक्ष्मी, सबका स्वामीपना और सब प्रकारकी संपत्ति सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे प्राप्त होती है।

भावार्थ— संसारमें जो जो उत्तम उत्तम ऐश्वर्य और विभूतियां हैं तथा जो जो उत्तम उत्तम पद हैं वे सब सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही मिलते हैं।

महाबलं महाशीलं महाविद्यां महाधनम् ।
महान्वयप्रसूतत्वं लभते शुद्धदर्शनः ॥ ७० ॥

अर्थ— महाबल, महाशील, महा विद्या, महा धन और सर्वोत्कृष्ट महा कुलमें जन्म लेना आदि सब शुद्ध सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे प्राप्त होता है। विना सम्यग्दर्शनके इनमेंसे कोई विभूति प्राप्त नहीं हो सकती।

महेंद्रमौलिमंदारदामसंदोहसौरभम् ।
तीर्थेशांह्रिद्वयं देवाः सेवन्ते शुद्धदर्शनात ॥ ७१ ॥

अर्थ— तीर्थंकर परमदेवके चरण कमल अनेक बडे बडे इंद्रोंके मुकुटमें लगी हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी मालाओंके समूहकी सुगंधिसे सुगंधित रहते हैं और उन चरण कमलोंकी सेवा सब देव करते हैं; यह उनके शुद्ध सम्यग्दर्शनका ही प्रभाव समझना चाहिये।

भावार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनकी भावनासे ही तीर्थंकरपद प्राप्त होता है और उन तीर्थंकर परमदेवके चरण कमलोंकी सेवा सब देव तथा इंद्र करते हैं। यह परमपूज्य पदकी प्राप्ति केवल सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे ही होती है। इसलिये सम्यग्दर्शनको सर्वथा शुद्ध रखना चाहिये।

आगे—मोक्षका कारण जैसा सम्यग्दर्शन है वैसा ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी है इसलिये इन दोनोंका स्वरूप कहते हुए पहिले सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कहते हैं।

यद्बुध्यते यथावस्थं स्वं परं परमार्थतः।
भ्रांतिसंदेहदूरस्थो बोधः सोयं सदोदितः। ७२

अर्थ—आत्मा और आत्मासे भिन्न शरीर पुद्गल आदि अन्य द्रव्य जिस अवस्थामें हैं उनको संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित उसी प्रकार यथार्थ रीतिसे जानना सो आत्मामें सदा उदय होनेवाला सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

भावार्थ—पदार्थोंके जाननेको ज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। और जो ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं होता उसे मिथ्या ज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञान संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों दोषोंसे रहित होता है। 'यह रस्सी है या सांप है' इस प्रकार एक ही पदार्थमें दो प्रकारके ज्ञान होनेको संशय कहते हैं। सांपको रस्सी जानना विपर्यय ज्ञान है और जाननेकी अनिच्छा होना अनध्यवसाय है। ये तीनों ही ज्ञानके दोष हैं और सम्यग्ज्ञानमें ये तीनों ही दोष नहीं होते हैं। वह सम्यग्ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। दीपकके प्रकाशके समान वह अपने स्वरूपको भी प्रतिभासित करता है

और अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। तथा वह पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करता है और आत्मामें सदा प्रकाशमान रहता है।

आगे प्रत्येक भव्य जीवको सम्यग्ज्ञानी बनना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं।

बुद्धेः समयतो वापि तत्त्वं तत्त्वं परामृशन्।
तत्त्ववेदी भवेद्भव्यो यदि निर्मत्सरं मनः॥ ७३॥

अर्थ—अपनी बुद्धिसे अथवा शास्त्रोंके द्वारा यथार्थ तत्त्वोंका विचार करते हुए भव्य जीवोंको तत्त्वोंका जानकार अवश्य बन जाना चाहिये। परंतु उन तत्त्वोंकी जानकारी तभी हो सकती है जब कि उनका मन निर्मल हो। उनके मनमें किसी प्रकारकी मत्सरता वा ईर्षा डाह न हो।

भावार्थ—जिनका मन निर्मल होता है उन्हींके ज्ञानकी वृद्धि होती है। जिनके मनमें ईर्षा डाह होता है उनके हृदयमें ज्ञानका प्रवेश हो ही नहीं सकता। इसलिये भव्य जीवोंको सबसे पहले मनको निर्मल करना चाहिये और फिर शास्त्रोंका मनन कर तथा पठन पाठन कर तत्त्वोंका ज्ञान बढाना चाहिये।

यद्यर्थे दर्शितेपि स्यान्महामोहमयी मतिः।
बुद्धिः प्रभातवत्तस्य वृथा रविरिपोरिव॥ ७४॥

अर्थ—यदि पदार्थोंका स्वरूप दिखलानेपर भी बुद्धि महामोहरूप बनी रहे तो सवेरेके समय उल्लूकी बुद्धिके समान उसकी बुद्धि व्यर्थ ही समझनी चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रभातके समय सब पदार्थोंके रहते हुए भी और अच्छा प्रकाश रहते हुए भी उल्लूको कुछ दिखाई नहीं पडता उसी प्रकार पदार्थोंका स्वरूप दिखलाते हुए भी जिनको पदार्थज्ञान न हो और जिनकी बुद्धिपर महामोहका परदा पडा रहे तो फिर उनकी बुद्धि उल्लूकी बुद्धिके समान ही समझना चाहिये।

आगे ज्ञानके भेद दिखलाते हैं।

मतिश्रुत्यादिभेदेन बोधोऽयं बहुधा भवेत्।
यावन्न परमो बोधस्तावद्भेदा निरंतराः ॥ ७५ ॥

अर्थ—मति श्रुत आदिके भेदसे यह ज्ञान कई प्रकारका हो जाता है और जब तक केवलज्ञान प्रगट नहीं होता तब तक निरंतर ज्ञानके भेद प्रगट होते रहते हैं।

भावार्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच भेद तो ज्ञानके हैं ही। इनमें भी केवल ज्ञानको छोडकर बाकीके चार ज्ञानोंके अनेक अनेक भेद हैं। जबतक केवलज्ञान नहीं होता तबतक जो ज्ञानमें हीनाधिकता होती रहती है वे सब ज्ञानके ही भेद समझने चाहिये।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका निरूपण कर चुके। अब आगे संयम वा सम्कूचारित्रका निरूपण करते हैं।

सर्वसावद्यतो हानिः संयमः परमो मतः
त्रिधाव्यापारसंरोधात्परमोदासतामयः ॥ ७६ ॥

अर्थ—मन वचन काय तीनोंके व्यापारोंको रोकनेसे जो सब तरहकी पापरूप क्रियाओंका नाश हो जाना है और परम उदासीनता रूप भावोंका प्रगट हो जाना है उसीको परम संयम कहते हैं।

भावार्थ—पाप सब मन वचन कायकी क्रियाओंसे होते हैं इसलिये उन पापोंका अभाव भी मन वचन कायकी क्रियाओंके रोकनेसे होता है। जिस समय मन वचन कायकी क्रिया रुककर सब पापोंका नाश हो जाता है उस समय परम उदासीनतारूप भाव अपने आप प्रगट हो जाता है। सब पापोंसे विरक्त हो जानेको अथवा सब पापोंका त्याग कर देने को ही उदासीनतारूप भाव कहते हैं। और इसीको संयम वा चारित्र कहते हैं।

आगे संयमके भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं।

देशतः सर्वतो वापि संयमोयं द्विधा मतः ।
धर्मः प्रवर्तितः पूर्वः परः सर्वनिवर्तितः ॥ ७७ ॥

अर्थ—वह संयम दो प्रकारका है एक देश संयम और दूसरा सर्वसंयम। उन पापोंके एक देश त्याग करनेको देश संयम कहते हैं और पूर्णतया त्याग करनेको सर्वसंयम कहते हैं। पहला देश संयम प्रवृत्तिरूप और दूसरा सर्वसंयम पूर्ण निवृत्तिरूप होता है ।

भावार्थ—देशसंयम गृहस्थोंके होता है और इसीलिये वह प्रवृत्तिरूप धर्म कहलाता है। तथा पूर्णसंयम मुनियोंके होता है और इसीलिये वह पूर्ण निवृत्तिरूप होता है ।

आगे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंके समुदायको ही मोक्षमार्गना दिखलाते हैं।

श्रद्धासंयमबोधानां समुदायात्परं पदम् ।
विभिन्नैरेभिरेव स्याद् भवं मिथ्यापरं पदम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायसे मोक्ष पदकी प्राप्ति होती है। परंतु अलग रहनेवाले इन तीनोंसे संसारकी वृद्धि होती है ।

भावार्थ—इन तीनों रत्नोंका समुदाय ही मोक्षका मार्ग है। यदि ये तीनों ही अलग अलग हों तो कुछ कार्यकारी नहीं हैं।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

बोधसंयमहीनस्य श्रद्धा नैव शिवाश्रया ।
फलंति नियतं नेह विनोपायैर्मनोरथाः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जिस सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं है उस सम्यग्दर्शन से कभी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यह निश्चित है कि इस संसारमें विना उपायोंके कभी मनोरथ सिद्ध नहीं होते हैं।

भावार्थ—कोई मनुष्य मनमें किसी कामका विचार करता रहे प-

रंतु उस कामके करनेकेलिये कुछ उपाय न करे तो ऐसी अवस्थामें उसका वह काम कभी नहीं हो सकता। यदि वही मनुष्य उस विचारके अनुसार उसके उपायोंकी जानकारी प्राप्त करे और फिर उन उपायों को करे तो फिर कहीं जाकर उस कार्यकी सिद्धि हो सकती है। इसी प्रकार केवल तत्त्वोंके श्रद्धानके साथ उन तत्त्वोंको जानना चाहिये। और फिर अपने शुद्ध आत्माके प्रगट करनेका उपाय करना चाहिये, तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंका नाश करना चाहिये। तब कहीं जाकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि तीनोंका समुदाय ही मोक्षका कारण है। अकेला सम्यग्दर्शन मोक्षका कारण नहीं है ।

आगे दिखलाते हैं कि अकेले सम्यग्ज्ञानसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती।

श्रद्धासंयमहीनेन बोधेनापि न तत्पदम् !
न ह्यंबुवेदनादेव महोदन्यो प्रशाम्यति ॥ ८० ॥

अर्थ — सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके विना केवल सम्यग्ज्ञानसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि केवल पानीको जान लेनेसे ही प्यास शांत नहीं हो जाती।

भावार्थ— जिस प्रकार केवल पानीको जान लेनेसे ही उस पानीसे प्यास शांत नहीं हो जाती। जब वह पहले यह निश्चय कर लेगा कि पानीसे प्यास बुझ जाती है, और ऐसा निश्चय करनेके बाद जब उसे पानीका ज्ञान होगा और फिर वह उस पानीको पीवेगा तब कहीं जाकर वह प्यास शांत होगी। केवल पानीको जान लेनेसे प्यास शांत नहीं होती। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंके समुदायसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अकेले ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जब तक उसे यह श्रद्धा न हो कि कर्मोंके नाश हो जानेसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। तब तक वह उन कर्मोंके नाश करनेमें प्रवृत्त नहीं होता। और जब तक वह कर्मोंके नाश

करनेमें प्रवृत्त नहीं होता तब तक तत्त्वोंको जानता हुआ भी कर्मोंको नष्ट नहीं कर सकता अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि अकेले ज्ञानसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

आगे अकेले चारित्रसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती—यह बात बतलाते हैं।

श्रद्धाबोधविहीनस्य तपसा नैव तत्फलम्।
दुःस्थितैरन्यथा प्राप्यं फलं मानससंस्थितम्॥ ८१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना केवल तपश्चरणसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि विना सम्यग्दर्शन और विना सम्यग्ज्ञानके मिथ्या ज्ञान और मिथ्या श्रद्धानके होनेसे मनकी निर्मलता नहीं हो सकती। मनकी निर्मलताके विना अशुभ परिणामोंकी शांति नहीं हो सकती। और अशुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका आस्रव होता है। इस प्रकार विना सम्यग्दर्शन और विना सम्यग्ज्ञानके धारण किया हुआ चारित्र मिथ्या चारित्र कहलाता है। उस मिथ्या चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। वह तो संसारके दुःखोंका बढाने ही वाला है। क्योंकि उस मिथ्या चारित्रसे अशुभ परिणाम ही उत्पन्न होते हैं। उससे शुद्ध परिणाम नहीं होते। शुद्ध परिणामोंके विना कर्मोंका नाश नहीं हो सकता, और कर्मोंके नाश हुए विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र—तीनोंके समुदायसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है; अलग अलगसे नहीं।

महाफलप्रदो नैव निर्बोधस्य तपोविधिः।
वृथा ह्यंधो धनुर्धत्वा राधावेधाय धावति॥ ८२॥

अर्थ— सम्यग्दर्शन और सम्याग्ज्ञानके विना जो तपश्चरण किया जाता है उससे भी मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती। जिस प्रकार किसी अंधे पुरुषका हाथमें धनुष्य लेकर निशाना लगानेके लिये दौडना व्यर्थ है उसी प्रकार विना ज्ञानके तपश्चरण करना भी व्यर्थ है।

भावार्थ— जिस प्रकार अंधा मनुष्य हाथमें धनुष लेकर भी निशाना नहीं लगा सकता। निशाना लगानेके लिये उसका दौडना व्यर्थ है। क्योंकि उसे उस निशानका न तो निश्चय है और न वह उसे जानता है कि कहां है । वह उसे देख नहीं सकता इसलिये वह उस निशानको लगा नहीं सकता। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना क्रिया हुवा तपश्चरण भी व्यर्थ है । क्योंकि विना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके तपश्चरण करनेवाला यह निश्चय नहीं कर सकता कि शुद्ध आत्माका स्वरूप कैसा है और उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है तथा वह कर्मोंके नाश करनेके उपायोंको भी जानता नहीं। केवल अंधे पुरुषके समान क्रिया करता है इसलिये उसकी वह क्रिया निष्फल हो जाती है । उससे उसका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है ! इसलिये विना सम्यग्दर्शन और विना सम्यग्ज्ञानके धारण किया हुवा तपश्चरण वा चारित्र भी व्यर्थ ही है। उससे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

लिखा भी है।

ज्ञानं पंगोः क्रिया चांधे निःश्रद्धे नार्थकृद् द्वयम् ।
तस्माज्ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥

अर्थ— किसी वनमें अग्नि लग जानेपर लंगडा मनुष्य अग्निको देखता और जानता हुआ भी भाग न सकनेके कारण उस अग्निसे बच नहीं सकता। इसी तरह अंधा मनुष्य भी भागनेकी शक्ति रखता है तथापि दिखाई न देनेके कारण उस अग्निसे बच नहीं सकता । और आलसी मनुष्य भागने और देखनेकी शक्ति रखता हुआ भी आलस्यके कारण उसमें जल मरता है । इस प्रकार विना ज्ञान और चारित्रके श्रद्धान कुछ नहीं कर सकता। विना सम्यग्दर्शन और चारित्रके ज्ञान कुछ नहीं कर सकता। और विना सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके चारित्र कुछ नहीं कर सकता। जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिलते हैं—तीनों मिलकर एक रूप होते हैं—तभी मोक्षके पूर्ण रूपसे कारण होते हैं। अर्थात् उसी समय मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आगे निश्चय सम्यग्दर्शनको कहते हैं ।

वाह्यसंवेदनैः सर्वैर्यस्यात्मा नैव लिप्यते ।
स्वसामान्यरसाधीनो विशुद्धं तस्य दर्शनम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अपने स्वानुभूतिरूप सामान्य रसके आधीन हुआ जिसका आत्मा बाह्य समस्त अनुभवोंसे लिप्त नहीं होता उसीका सम्यग्दर्शन विशुद्ध समझना चाहिये ।

भावार्थ—जिसकी रुचि शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें नहीं होती—जो स्वानुभूतिरूप अपने आत्माके रसमें ही प्रेम करता है—शुद्ध आत्माको छोडकर अन्य किसी पदार्थमें जिसकी श्रद्धा नहीं है—केवल शुद्ध आत्मामें ही जिसको गाढ श्रद्धा है उसीके विशुद्ध सम्यग्दर्शन अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन समझना चाहिये ।

आगे इसी वातको बतलाते हैं ।

निर्विशेषं स्वयं यस्य विशुद्धं स्वस्थ दर्शनम् ।
तस्यैव दर्शनं शुद्धं स्वानुभूतिफलप्रदम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिसकी शुद्धात्मश्रद्धा विशुद्ध है और भेद प्रभेद आदि विशेषताओंसे रहित है उसीका सम्यग्दर्शन स्वानुभूतिरूप फलको देनेवाला है ।

भावार्थ—स्वानुभूतिका प्रगट होना ही सम्यग्दर्शनका फल है और वह स्वानुभूति तभी हो सकती है जब कि शुद्ध आत्माका गाढ श्रद्धान हो । वह शुद्ध आत्माका गाढ श्रद्धान निश्चल और अत्यंत शुद्ध होता है । उसमें भेद प्रभेद वा विशेषताएं कुछ नहीं होतीं । ऐसा सम्यग्दर्शन ही शुद्ध वा निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है ।

स्वानुभूतिरसाधीनो यो बाह्यं नैव श्रद्धते ।
परानंदसुधास्वादं विशुद्धं तस्य दर्शनम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—जिसका आत्मा केवल स्वानुभूतिरूप रसके आधीन है; जो स्वानुभूतिके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थका श्रद्धान नहीं करता उसी-

का सम्यग्दर्शन विशुद्ध समझना चाहिये। उसी सम्यग्दर्शनमें परम आनंद रूपी अमृतका स्वाद आता है।

भावार्थ—परमानंद अन्य पदार्थोंकी अभिरुचिमें नहीं है। वह शुद्ध आत्माकी अभिरुचिमें है। इसलिये शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

आगे निश्चय सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कहते हैं।

शुद्धैर्बुद्धैः स्वभावस्थैर्विशेषैस्तस्य वेदनम् ।
परद्रव्यबहिर्भूतैस्तस्य संवेदनं ध्रुवम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो ज्ञान परद्रव्योंसे भिन्न हैं—आत्माके शुद्ध स्वभावसे उत्पन्न हुआ है और परम शुद्ध है, विशेषताको धारण करनेवाला है और स्वयं बुद्ध है—अपने स्वरूपको भी जानता है उस ज्ञानके द्वारा उसी शुद्ध आत्माको जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ—पर पदार्थोंका जानना निश्चय ज्ञान नहीं है किंतु शुद्ध केवलज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माका अनुभव करना निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

शुद्धात्मरूपसंवित्तिस्वादानुभवसंभवम् ।
यद्वेदनं शुद्धं तद्धि संवेदनं स्मृतम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—शुद्ध आत्माके ज्ञानरूप स्वादके अनुभवसे उत्पन्न हुआ जो शुद्ध आत्माका अनुभव है वह निश्चय ज्ञान कहलाता है।

भावार्थ—शुद्ध आत्माका संवेदन ही निश्चय ज्ञान है।

आगे निश्चय संयमको कहते हैं।

स्वात्मस्वभावसंशुद्धबोधदर्शनतामयः ।
यदात्मनः स्थिरोभावः स शुद्धः संयमो मतः ॥ ८८ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अपने आत्माके शुद्ध स्वभावरूप है और अत्यंत निर्मल है उस रूप आत्माकी निश्चल अवस्थाका हो जाना शुद्ध संयम कहलाता है।

भावार्थ—शुद्ध आत्माका शुद्ध आत्मामें ही लीन हो जाना निश्चय चारित्र है।

आगे अलग अलग होनेवाले ज्ञान और संयमको व्यर्थपना दिख-लाते हैं।

शैलूषस्येव सा विद्या या न सद्वृत्तसंश्रया।
संयमो बोधहीनस्य महिषे तालनर्तनम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो ज्ञान सम्यक् चारित्रके आश्रय नहीं है उस ज्ञानको नटकी विद्याओंके समान समझना चाहिये। तथा जो संयम सम्यग्ज्ञान रहित है वह भैंसके सामने तालपर नाचनेके समान व्यर्थ समझना चाहिये।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान का फल सम्यक्चारित्र ही है। जो ज्ञान चारित्ररहित है वह निष्फल वा व्यर्थ ही है। जिस प्रकार नटकी विद्या केवल दो रोटियां कमानेके काम आती है; वह उससे और कुछ लाभ नहीं उठा सकता उसी प्रकार चारित्र रहित ज्ञानसे कुछ लाभ नहीं हो सकता। वह व्यर्थ ही है। इसी प्रकार ज्ञानरहित चारित्र भी व्यर्थ ही है। जिस प्रकार भैंसके सामने ताल बजाने वा नृत्य करनेसे कोई लाभ नहीं होता क्योंकि वह भैंस कुछ समझती ही नहीं। उसी प्रकार विना ज्ञानके संयम पालन करना भी व्यर्थ है। उस संयमसे कोई लाभ नहीं होता।

आगे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका फल बतलाते हैं

दर्शनात्सौख्यसंप्राप्तिर्बोधाद्दूरप्रसिद्धता।
सर्वमान्यो भवेद् वृत्तात्त्रितयात्परमं पदम् ॥ ९० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे सुखकी प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञानसे दूर दूर तक प्रसिद्धि होती है, सम्यक्चारित्रसे यह मनुष्य जगत्पूज्य बन जाता है और इन तीनों के समुदायसे मोक्षरूप परम पद प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेके बाद इस जीवको फिर संसारका कोई दुःख प्राप्त नहीं होता। फिर तो इंद्र चक्रवर्ती आदिके उत्तम उत्तम सुख ही प्राप्त होते रहते हैं। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि होनेसे यह मनुष्य देश देशांतरोंमें प्रसिद्ध हो जाता है। अनेक तत्त्वोंकी जान-

कारी और वक्तृत्व शक्तिके कारण उसकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ जाती है। तथा जो चारित्र धारण करता है वह संसार भरमें पूज्य और मान्य माना जाता है। और यदि इन तीनों रत्नों की पूर्णता हो जाय तो उसी समय इस जीवको मोक्ष पदकी प्राप्ति हो जाती है।

लिखा भी है,

वृत्तं वन्हिरुपायो धीर्दर्शनं परमौषधिः।
साधुसिद्धो भवेदेष तद्वामादात्मपारदः॥

अर्थ—इस आत्मरूप पारेको अच्छी तरह सिद्ध करनेकेलिये सम्यक् चारित्र तो अग्नि है। सम्यग्ज्ञान उसका उपाय है और सम्यग्दर्शन परम औषधि है। इन तीनोंके मिलनेसे ही आत्माकी सिद्धि अच्छी तरह होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार पारेको सिद्ध करनेकेलिये सबसे पहले औषधिकी आवश्यकता होती है। विना औषधिके पारा कभी सिद्ध हो नहीं सकता। इसी प्रकार आत्माको सिद्ध करनेके लिये सबसे पहले सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता होती है। विना सम्यग्दर्शनके यह आत्मा कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार औषधि के प्राप्त हो जानेपर उसको सिद्ध करनेके उपायोंकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार आत्माको सिद्ध करनेकेलिये सम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार विना उपायोंके पारा सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार विना सम्यग्ज्ञानके भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता। तथा उपायोंके और औषधिके रहते हुए भी विना अग्निके पारा सिद्ध नहीं हो सकता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके रहते हुए भी विना चारित्रके यह आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके प्राप्त होनेसे ही आत्मा सिद्ध होता है। इन तीनोंका आश्रय शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखा है।

दर्शनस्यात्मनः स्वान्तनभ्यासो बुद्धिसम्पदः।
सद्वृत्तस्य शरीरं स्यादित्तं दानादिसद्विधिः॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका आश्रय मन है। ज्ञानका अभ्यास बुद्धिरूपी संपदासे होता है। सम्यक्चारित्रका आश्रय शरीर है और दान पूजा आदि उत्तम क्रियाओंका आश्रय धन है।

भावार्थ—संसारके समस्त पाप मनसे ही होते हैं। यदि समस्त पापोंका त्यागकर मनको निर्मल कर लिया जाय तो उस निर्मल मनसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी। मनकी निर्मलताका होना आत्माकी विशुद्धताका सूचक है। जिसका आत्मा विशुद्ध होता है उसीका मन शुद्ध होता है। तथा शुद्ध आत्मामें ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। और इस प्रकार शुद्ध मन ही सम्यग्दर्शनका आश्रय है। इसी प्रकार ज्ञानकी वृद्धि बुद्धिसे होती है। बुद्धि तीव्र हो तो अभ्यास करनेसे ज्ञानकी वृद्धि हो ही जाती है। यदि बुद्धि तीव्र न हो तो ज्ञान बढता नहीं। और बढता है तो बहुत कम। यथेष्ट नहीं बढता। इसलिये यह ठीक है कि ज्ञानकी वृद्धिका कारण बुद्धिकी तीव्रता है। इसी तरह सम्यक्चारित्रका आधार शरीर है। अंतरंग बहिरंग सब प्रकारके तपश्चरण शरीरसे ही किये जाते हैं। विना शरीरके कोई भी तपश्चरण नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो विना शरीरके सिद्धोंमें भी रहते हैं। परंतु तपश्चरण महाव्रत आदि सम्यक्चारित्र विना शरीरके हो ही नहीं सकते हैं। इसीलिये कहा गया है कि सम्यक्चारित्र का आधार शरीर है। इसी प्रकार दान पूजा जो कि श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है वह धनके ही आश्रित है। विना धनके न तो यह गृहस्थ दान दे सकता है न पूजा कर सकता है, न जिनभवन बनवा सकता है, न प्रतिमा विराजमान कर सकता है, न स्वाध्यायशाला बनवा सकता है और न शास्त्रदान देकर ज्ञानकी वृद्धि कर सकता है। विना धनके मुनियोंके लिये मठ आदि भी नहीं बनवा सकता, न तीर्थ यात्रा कर सकता है, न रथोत्सव कर सकता है और न महामह आदि महायज्ञ कर सकता है। विना धनके यह गृहस्थ कोई भी पुण्य कार्य नहीं कर सकता। इसलिये दान

पूजा आदि उत्तम उत्तम क्रियाओंका आधार धन ही है। इस प्रकार रत्नत्रयके जो जो साधन हैं उनसे उनकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये। मनुष्य जन्म पाकर और इस उत्तम श्रावक कुलमें जन्म लेकर रत्नत्रयकी प्राप्ति अवश्य कर लेनी चाहिये यही सब शास्त्रों का सार है।

इस प्रकार विद्वद्वर्य श्री यशःकीर्ति आचार्य विरचित प्रबोधसार
नाम ग्रंथमें रत्नत्रयको निरूपण करनेवाला यह पहला
अध्याय चावली (आगरा) निवासी लालाराम
जैन शास्त्री कृत हिंदी भाषामें

समाप्त हुआ।

दूसरा अध्याय।

आगे व्रतकी महिमा दिखलाते हैं।

संपदैव महाविद्या विनयेनैव पौरुषम्।
शीलेनैव महारूपं व्रतेनाभाति दर्शनम्॥ १॥

अर्थ—महाविद्याएं सब संपदाओंसे ही शोभायमान होती हैं, पराक्रम वा बल विनय से ही शोभा पाता है और सुंदररूप शील पालन करनेसे ही सुशोभित होता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शनकी शोभा भी व्रतोंसे ही होती है।

आगे श्रावकोंके व्रत कहते हैं।

देशसंयमिनां हेयं मद्यमांसमधुत्रयम्।
नवनीतं तथा सर्वैः फलैरौदुम्बरैः सह॥ २॥

अर्थ—देशसंयमी गृहस्थोंको मद्य मांस मधु इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये तथा नवनीत वा मक्खनका त्याग कर देना चाहिये और सब प्रकारके उदम्बर फलोंका त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ— मद्य मांस मधुका त्याग और पांच उदुम्बरोंका त्याग ये आठ मूल गुण तो सब जगह हैं ही परंतु यहांपर नवनीतका त्याग और कराया है। अन्य आचार्योंने नवनीतका त्याग भोगोपभोग परिमाण व्रतमें कराया है। परंतु इस ग्रंथमें यहां ही नवनीतका त्याग करा दिया है। इसीलिये ग्रंथकारने यह श्लोक मूलगुण कहनेकी प्रतिज्ञारूपसे नहीं लिखा है। किंतु साधारण व्रतोंके कहनेकी प्रतिज्ञारूपसे लिखा है।

आगे मद्यके दोष दिखलाते हैं।

सर्वे दोषाः सुरापानात्सर्वमोहोदयस्तथा ।
सर्वासां पापवृत्तीनां मंदिरं सर्वसम्मतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस बातको सब लोग मानते हैं कि मद्यके पीनेसे सब दोष उत्पन्न होते हैं। मोहनीय कर्मका प्रबल उदय हो जाता है। और मद्यका सेवन करना समस्त पाप कार्योंका घर है।

भावार्थ— मद्य पीनेसे यह मनुष्य मोहित वा-बे-होश तो हो ही जाता है। तथा बेहोश होकर धर्मको भूल जाता है। और धर्मको भूल जानेके कारण सब तरहके पाप करने लग जाता है। इसीलिये उसके निकट सब प्रकारके दोष आ जाते हैं। इसलिये मद्य सेवनका सर्वथा त्याग कर देना ही उचित है।

आगे और भी मद्यके दोष दिखलाते हैं।

मद्यपस्य शवस्येव पतितस्य महापथे ।
मूत्रयन्त्याननें श्वानो व्यात्ते विवरसंशयात् ॥ ४ ॥

अर्थ— मद्य पीनेवाले अच्छे अच्छे लोग मद्य पीकर बडे बडे बाजारोंमें वा रास्तोंमें मुर्देके समान गिरकर बेहोश हो जाते हैं। मद्यकी गर्मीके कारण उनके मुह खुले रहते हैं और फिर छिद्र समझकर कुत्ते उनमें मूता करते हैं।

मद्यमोहपराभूता बुध्यन्ते न हिताहितम् ।
हिताहितविमोहेन सर्वं पापं तदाश्रयम् ॥ ५ ॥

अर्थ— मद्यके मोहसे मोहित होकर लोग अपने हित अहितको नहीं समझ सकते। तथा जो मनुष्य इतने बेसुध हैं कि अपने हित अहित को भी नहीं समझ सकते वे विना किसी रुकावटके मनमाना पाप करते हैं।

पापास्रवाद्भवभ्रान्तिरनन्तानन्तसंस्थितिः ।
ततो मद्यविमोहोयं दूरतः परिहाप्यताम् ॥ ६ ॥

अर्थ— फिर पाप कर्मोंका आस्रव होनेके कारण यह जीव अनंतानंत कालतक संसारमें परिभ्रमण करता है। इस लिये इस मद्यके पीनेके व्यसनको दूरसे ही छोड देना चाहिये।

भावार्थ — मद्यके पापोंसे उत्पन्न हुए दोषोंके कारण यह जीव अनंतानंत काल तक नरक निगोद आदिके ही दुःख सहन किया करता है और फिर वह दुःखोंकी परंपरा ऐसी बंध जाती है कि फिर कभी छूटती ही नहीं। इसलिये मद्यका सदाकेलिये त्याग कर देना चाहिये।

निष्पद्यन्ते विपद्यन्ते देहिनो मद्यसम्भवाः ।
विंदौ विन्दौ सदानन्ता मद्यरूपरसावहाः ॥ ७ ॥

अर्थ–मद्यकी एक एक बूंदमें उस मद्यके ही रूप रसको धारण करने वाले अनंतानंत जीव हर समय उत्पन्न होते रहते हैं और हर समय मरते रहते हैं।

भावार्थ–फूल गुड अन्न आदि पदार्थोंको सडकर उनका अर्क निकलनेपर मद्य तैयार होता है। जो पदार्थ सड जाते हैं उनमें बडी बडी लटें तथा अन्य अनेक प्रकारके जीव उत्पन्न हो जाते हैं। मद्य बनाते समय उन सबका अर्क निकाला जाता है इसलिये उस अर्कमें वा उस मद्य में उन सब कीडोंके मांस रुधिरका अर्क आ जाता है। इस प्रकार वह मद्य उन कीडोंके मांस और रुधिरके अर्क रूप ही गिना जाता है। जिसमें रुधिर और मांसका अर्क है उसमें निरंतर कीडोंकी उत्पत्ति होनी ही चाहिये। वे कीडे मद्यके समान ही रूप रस वाले होते हैं। वे कीडे प्रत्येक समयमें अनंतानंतकी संख्यामें उत्पन्न होते हैं और

अनंतानंतकी संख्यामें उत्पन्न होते हैं और अनंतानंतकी संख्यामें ही मरते रहते हैं। इसलिये मद्यकी एक बूंद स्पर्श करनेसे भी अनंतानंत जीवोंकी हिंसाका पाप लगता है। अतएव मद्यका स्पर्श तक करना महापाप है।

आगे अनुमान प्रमाणके द्वारा मद्यकी एक बूंदमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका प्रमाण दिखलाते हैं।

मद्यबिन्दुलवोत्पन्ना देहिनो यदि दैवतः।
प्रसरन्ति तदा नूनं भुवनं पूरयन्त्यमी ॥ ८ ॥

अर्थ— यदि दैवयोगसे मद्यकी एक बूंदके एक छोटेसे हिस्से में उत्पन्न होनेवाले जीव उडकर फैलने लगें तो उनसे यह समस्त संसार भर जाय।

भावार्थ— यह पहिले बता चुके हैं कि मद्यकी एक बूंदमें भी एक समयमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी संख्या अनंतानंत है। फिर भला उनसे संसार भरजाना एक साधारणसी बात है। इस लिये मद्यकी एक बूंदका स्पर्श करनेसे भी इतने जीवोंका घात होता है। अतएव मद्य किसी काममें नहीं लानी चाहिये, उसका स्पर्श तक भी नहीं करना चाहिये।

लिखा भी है।

मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद्भवापदाम्।
मद्यं सद्भिः सदा हेयमिहामुत्र च दोषकृत ॥

अर्थ— यह मद्य मनको मोहित करनेका कारण है और संसारकी समस्त आपत्तियोंका कारण है। इसके सिवाय वह इस लोकमें भी अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न करनेवाला है, और परलोकमें भी नरक निगोद के अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला है। इसलिये सज्जन पुरुषोंको सदाकेलिये इसका त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ—यह निश्चित है कि मद्य पीनेसे बेहोशी आ जाती है तथा बेहोशीमें धर्म कर्म सब भूल जाता है और मन माने पाप करने

लगता है। इसीलिये संसारके अनंत दुःख उसे भोगने पडते हैं। यदि संसारके दुखोंसे बचना है तो सबसे पहिले मद्यका त्याग कर देना चाहिये।

आगे मांसके दोष बतलाते हैं।

यद्देहिदेहसंभूतमपवित्रं स्वभावतः।
हिंसातोऽन्यत्र दुष्प्रापं तन्न मांसं सतां मतम् ॥ ९ ॥

अर्थ– मांस निश्चयसे जीवोंके शरीरसे उत्पन्न होता है। तथा वह स्वभावसे ही अपवित्र है और हिंसाके सिवाय अन्य किसी तरह उत्पन्न नहीं हो सकता। इन्हीं सब कारणोंसे सज्जन लोग मांसको कभी स्वीकार नहीं करते हैं।

भावार्थ–मांस त्रस जीवोंके शरीरसे ही उत्पन्न होता है विना त्रस जीवोंके घात किये मांसकी उत्पत्ति नहीं है। इसके सिवाय मांस अत्यंत अपवित्र है–और इतना अपवित्र है कि उसका स्पर्श करना भी योग्य नहीं है। यदि कारणवश उसका स्पर्श हो जाय तो उसी समय स्नान करना चाहिये। इतने अपवित्र और हिंसामय मांसका सेवन करना बुद्धिमानोंका काम नहीं है। इसको दूरसे ही छोड देना बुद्धिमानी है।

परमांसैः स्वमांसस्य पोषोपि हि विधीयताम्।
यमो यदि स्वमांसानि नाश्नात्येष पदे पदे ॥ १० ॥

अर्थ–यदि यह यमराज पद पदपर अपने मांसको ग्रहण न करे तब तो दूसरे के मांससे अपने मांसकी पुष्टि करना भी किसी तरह ठीक समझा जाय।

भावार्थ–इस जीवकी आयु क्षण क्षणमें घटती जाती है। उछ्वासके साथ ही आयु घटती रहती है। यह प्रत्येक क्षणमें होनेवाली मृत्यु कहलाती है। ऐसी प्रत्येक क्षणमें होनेवाली मृत्यु प्रत्येक जीवके सदा होती रहती है। जब इस जीवकी मृत्यु प्रत्येक क्षणमें होती रहती है फिर दूसरेके मांससे अपने मांसका बढाना व्यर्थ ही है। केवल पापका कारण

है। उससे कोई लाभ नहीं होता। अतएव पापसे डरनेवाले जीवोंको मांससे दूर ही रहना चाहिये। इसका सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

पूर्वधर्मबलात्प्राप्य शर्मसंतानमुत्तमम्।
तत्रापि मांसमाधत्ते तर्हि मोहो महाबलः ॥ ११ ॥

अर्थ—पहिले जन्ममें कोई प्रबल पुण्य कर्म किया था उसके उदयसे ही उत्तम कुलमें जन्म प्राप्त हुआ है और आत्मकल्याणका सुभीता मिला है। यदि ऐसे उत्तम शरीरको पाकर भी मांस ग्रहण किया जाय तो फिर मोहनीय कर्मका बडा ही प्रबल उदय समझना चाहिये।

भावार्थ—उत्तम मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल और उत्तम धर्मको पाकर भी मांसका सेवन करना अत्यंत नीचता है। उत्तम कुल वालोंको तो कभी इसका स्पर्श तक नहीं करना चाहिये।

प्रार्थितार्थप्रदं प्राप्य फलनम्रामरपादपम्।
संदेहाद्यो भवेन्मंदो दयाधर्मेपि शर्मदे ॥ १२ ॥

अर्थ - जो मनुष्य सब प्रकारके कल्याण करनेवाले दयारूप धर्ममें मंद प्रवृत्ति करता है वह इच्छानुसार समस्त पदार्थोंको देनेवाले और फलोंसे नम्र हुए कल्पवृक्षको जला देता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य कल्पवृक्षको पाकर भी उसको जलादे और उससे यथेष्ट लाभ न उठावे तो उसकी वह सबसे बडी अज्ञानता ही समझनी चाहिये। इसी प्रकार जो मनुष्य दयाधर्मको पाकर भी उसमें संदेह करता है और उसका यथेष्ट पालन नहीं करता उसे भी महा मूर्ख ही समझना चाहिये। वास्तमें देखा जाय तो धर्मका स्वरूप ही दया है। विना दयाके यह मनुष्य न तो अनेक पाप करते हुए अपने आत्माको ही उन पापोंसे बचा सकता है और न अन्य जीवोंकी रक्षा ही कर सकता है। संक्षेपमें यों समझना चाहिये कि दया सब सुखोंकी जड है और दया न करना सब पापोंकी वा सब दुःखोंकी जड है। इसलिये दया पालन करना सब मनुष्योंका प्रधान कर्तव्य है।

स्वल्पायासान्महालाभं यदीहेत महामतिः ।
यदनर्थप्रदं स्वस्य तत्परस्य न निर्दिशेत् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो महा बुद्धिमान् मनुष्य थोडे ही परिश्रमसे महा लाभ प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे दूसरोंके लिये ऐसे काम कभी न करें जो कि अपनेलिये अनर्थ करनेवाले हों ।

भावार्थ—प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्यको यह समझ लेना चाहिये कि जो काम अपने लिये दुःख देनेवाला वा बुरा लगनेवाला है वह काम दूसरोंकेलिये भी दुःख देनेवाला वा बुरा लगनेवाला है । इसलिये जो काम अपने लिये दुःख देनेवाला है। अपनी हानि करनेवाला है ऐसा काम दूसरोंकेलिये कभी नहीं करना चाहिये । ऐसा करनेमें कुछ परिश्रम भी नहीं पडता और उसका फल बहुत ही उत्तम होता है । जो मनुष्य हम लोगोंपर दया करते हैं उनसे हम लोगोंको बहुत ही सुख मिलता है। यदि इसी प्रकार हम लोग भी अन्य जीवोंपर दया करें तो उन लोगोंको भी बहुत ही सुख मिलेगा । दया पालन करनेसे अनायास ही सब जीवोंको सुख मिलता है । दया पालन करना सुखकी पहिली सीढी है । इसीलिये प्रत्येक मनुष्यको प्रत्येक समय दया पालन करना अपना धर्म समझना चाहिये ।

धावमानोपि शर्मेह परत्रापि शुभाश्रयः ।
सर्वथैवपराहिंस्रो दयादानपरो नरः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पर लोकके सुखोंकी इच्छा करता हुआ भी इस लोकके सुख चाहता है उस मनुष्यको अन्य जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और दया पालन करने तथा दान देनेमें सदा तत्पर रहना चाहिये ।

भावार्थ—जो मनुष्य अन्य जीवोंकी कभी हिंसा नहीं करता है और दान पूजा आदि गृहस्थोंके धर्मको अच्छी तरह पालन करता है उसे इस लोकमें भी सुख प्राप्त होते हैं और पर लोकमें भी सुख प्राप्त होते

हैं। इसलिये पर लोकके सुखके जो जो कारण हैं उनको सुरक्षित रखते हुए इस लोकके सुख भोगने चाहिये। यह खूब समझ लेना चाहिये कि सुख भोगनेसे पाप नहीं होता है किंतु सुखके कारणभूत दया दान आदि धर्म कार्योंके घात करनेसे पाप होता है। इसलिये जिनपूजा करना, दान देना दया पालन करना आदि धार्मिक कार्योंको करते हुए सांसारिक सुखों का अनुभव करना चाहिये।

स पुमान् भूत्रये नूनं मायातोऽशर्ममन्दिरम्।
तदा त्वशर्मता लोभाद्यो न मुह्यति धर्मतः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सांसारिक सुखोंका लोभ छोड कर धर्मकार्योंसे मोहित नहीं होता वह मनुष्य तीनों लोकोंमें दुःखोंके भवनमें कभी नहीं पहुंचता।

भावार्थ—सांसारिक सुख नहीं है किंतु एक प्रकारकी वेदनाके प्रतीकाररूप हैं। इसलिये इनके लोभमें कभी नहीं फसना चाहिये। और धर्मकर्मको कभी नहीं भूलना चाहिये। जो मनुष्य इन सुखोंमें कभी नहीं फसता और धर्मकार्योंमें मोहित नहीं होता अर्थात् धर्मकार्योंको नहीं छोडता उसे कभी दुःख नहीं होता।

आगे जो दया पालन नहीं करता उसकेलिये कहते हैं।

स भूभारः परं पापी पशोरपि महापशुः।
यो न मर्त्यभवं प्राप्य दयाधर्मं निषेवते ॥ १६ ॥

अर्थ—जो जीव मनुष्यजन्मको पाकर भी दयाधर्मका सेवन नहीं करता वह पृथ्वीके लिये भाररूप है, महापापी है। और पशुसे भी बढकर महापशु है।

भावार्थ—दया पालन करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है। बहुतसे पशु भी ऐसे हैं जो दयाधर्मका पालन करते हैं और अपने अपने बच्चोंपर तो सभी दया करते हैं। इसलिये जो मनुष्य मनुष्य होकर भी दया पालन नहीं करता अथवा मद्य मांसका सेवन कर हिंसा करता है वह उन पशु-

थोंसे भी निंद्य और नीच है। इसलिये मनुष्यजन्म पाकर दयाधर्मका पालन अवश्य करना चाहिये।

आगे धर्मात्माकी प्रशंसा करते हैं।

स विद्वान् स महामान्यः स धीमान् तत्त्वधीधनः।
योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति तत्परः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मके फलका उपभोग करता हुआ भी धर्ममें तत्पर रहता है वही मनुष्य विद्वान् है। वही महा माननीय है वही बुद्धिमान है और वही तत्त्वोंको मनन वा विचार करनेवाला विचारशील है।

भावार्थ—भोगोपभोगकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है इसलिये भोगोपभोगोंका सेवन करते हुए भी प्रत्येक मनुष्यको धर्मसेवन करनेमें तत्पर रहना चाहिये। इस जन्ममें जो भोगोपभोगोंकी प्राप्ति हुई है वह पहिले जन्ममें किये हुए धर्म सेवनके फलसे ही हुई है। क्योंकि यह निश्चित सिद्धांत है कि बिना धर्मके सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये यदि हमें आगेके जन्मोंमें भी सुख प्राप्त करना है और भोगोपभोग सामग्रियोंका उपभोग करना है तो इस जन्ममें भी अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक धर्म सेवन करना चाहिये। यही मनुष्यकी बुद्धिमत्ता है, यही विचारशीलता है और इसीमें उसका बड़प्पन है।

आगे जो अधर्म नहीं करता उसकी प्रशंसा करते हैं।

यः स्वतो वाऽन्यतो वापि नाधर्माय समीहते।
विश्वत्रयशिरोरत्नं तं पुमांसं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने आप अथवा किसी अन्यकी प्रेरणा से भी अधर्मके सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता उसी मनुष्यको विद्वान् लोग तीनों लोकोंके मस्तकका रत्न मानते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें बहुतसे मनुष्य ऐसे हैं जो अपने आप कभी पापकार्य नहीं करते। परंतु उनमें भी बहुतसे ऐसे हैं जो अपने आप तो

पाप कार्य नहीं करते। परंतु दूसरोंकी प्रेरणासे वहकानेसे उन पाप कार्यों को कर डालते हैं। जो लोग न तो उन पापोंको स्वयं करते हैं और न किसीकी प्रेरणासे वा वहकानेसे करते हैं ऐसे उत्तम मनुष्य इस संसारमें बहुत थोडे हैं। और ऐसे मनुष्य तीनों लोकोंमें मस्तकके मुकुटमें लगे हुए रत्नके समान सर्वोत्कृष्ट गिने जाते हैं।

आगे मांस खानेवालेकेलिये कहते हैं।

परमांसैः स्वमांसस्य ये विदध्युः प्रवर्द्धनम् ।
तेषां मांसैः परेभ्योपि तृप्तिं मन्ये भवेभवे ॥ १९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अन्य जीवोंके मांससे अपने मांसको बढाते हैं उनके मांससे जन्म जन्ममें दूसरे लोग तृप्त होंगे ऐसा हम मानते हैं।

भावार्थ—जो जीव इस भवमें प्रबल होता है और अन्य निर्बल जीवोंको मारकर उनका मांस खाता है वह जीव उस पाप कर्मके उदयसे भवभवमें निर्बल जीव होता है और फिर भवभवमें अन्य प्राणी मार कर उसे खाया करते हैं। इसलिये यदि परभवमें ऐसे महादुःखोंसे बचना है और इंद्रादिके अनुपम सुख भोगना है तो प्रत्येक मनुष्यको इस अपवित्र मांससे अलग रहना चाहिये।

आगे हिंसा न करनेकेलिये और भी हेतु कहते हैं।

वृद्ध्ये स्युः प्रदत्तानि निधनानि धनानि वा ।
मत्वेति बुद्धिमान् दत्ते व्यथास्थानं न देहिनाम् ॥ २० ॥

अर्थ—यदि इस जन्ममें किसीको धन दिया जाय तो वह अगले जन्ममें बढ कर मिलता है। इसी प्रकार यदि इस जन्ममें किसीका नाश किया जाय तो वह नाश भी बढकर ही मिलता है। यही समझकर बुद्धिमान् मनुष्योंको कभी प्राणियोंका घात नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार धनका दान देनेसे धनकी वृद्धि होती है उसी प्रकार हम जिस जीवको एक वार मारेंगे वह जीव जन्म जन्मान्तरमें अनेक वार हमें भी मारेगा। जिसकी हमने एकवार हिंसा की है वह हमारी

अनेक वार हिंसा करेगा । यही समझकर बुद्धिमानोंको किसी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । जहांतक बने, सबको सुख पहुंचानेकी इच्छा रखनी चाहिये ।

आगे मद्य मांस मधुके त्याग करनेकेलिये कहते हैं ।

मांसमद्यमधुप्रायं यदि धर्माय सम्मतम् ।
साधनं तर्हि पापस्य हतं नास्तीह भूतले ॥ २१ ॥

अर्थ—यदि मद्य मांस और मधुका सेवन करना भी धार्मिक कार्य समझा जाय तो फिर दुःखके साथ कहना पडता है कि पापका कोई कारण ही नहीं रहेगा ।

भावार्थ—मद्य मांस मधु इन तीनों का सेवन करना पापका कारण है। यदि महापापके कारणोंको भी धार्मिक कार्य मान लिया जाय तो फिर पापके कारण किसको माना जायगा । फिर तो पापके कारण संसारमें कोई रहेगा ही नहीं । इसलिये देवताओंपर बलि देना, मद्य चढाना और मधु वा शहतको पवित्र मानकर काममें लाना सब पाप हैं। इनके सेवन करनेसे कभी पुण्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

आगे हिंसाके त्यागकेलिये और भी हेतु बतलाते हैं ।

मृत्योर्भीतिर्यथा स्वस्य परस्यापि तथा ध्रुवम् ।
मत्वेति नियतं हिंसा दूरतः परिहाप्यताम् ॥ २२ ॥

अर्थ—संसारमें हम लोगोंको सबसे अधिक डर मृत्युसे लगता है । जिस प्रकार मृत्युसे डर हमें लगता है उसी प्रकार अन्य जीवोंको अवश्य लगता है। यही समझकर अन्य जीवोंकी हिंसा दूरसे ही छोड देनी चाहिये ।

भावार्थ—यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि मरनेसे डर सबको लगता है । इसके अनेक उदाहरण हैं और नये उदाहरण हम लोग प्रति दिन देखते हैं । जो जीव जिस योनिमें वा जिस शरीरमें उत्पन्न होता है वह उसी योनि वा उसी शरीरमें रम जाता है—वह उसीको अच्छा मानने लगता है ।

यह जीव चाहे कितना ही दुःखी क्यों न हो परन्तु तो भी मरना नहीं चाहता। एक ही वारमें अनेक प्रकारके रोग अनेक प्रकारके दुःख और वेदनाएं सहन करना पसंद कर लेता है परंतु ऐसी अवस्थामें भी मरना नहीं चाहता। दूसरी बात यह है कि मरनेमें सबसे अधिक दुःख होता हैं। और शरीरको छोडनेमें सबसे अधिक वेदना होती है इसीलिये अत्यंत दुःखी जीवोंको उनके दुःख दूर करनेकेलिये भी मरना महापाप है। सर्प विच्छू आदि घातक जीव भी मरनेसे डरते हैं। वे स्वयं छिपते फिरते हैं। इतनेपर भी यदि वे किसी तरह दब जांय तो केवल अपने बचनेके अभिप्रायसे काटते हैं। अपने बचनेकेलिये न तो वे कह सकते हैं और न उनके पास अन्य कोई उपाय है। इतने पर भी दुष्ट लोग उन्हें मार देते हैं। कोई कोई महादुष्ट तो विना काटे यों ही देखते ही मार देते हैं। वास्तवमें यह उनकी बडी भारी अज्ञानता और मूर्खता है। इसलिये सभ्य गृहस्थोंको उचित है कि वे कभी किसी जीवको न मारें, कभी किसी जीवको न सतावें और न कभी किसी जीवको किसी प्रकारका दुःख दें।

मांस मद्य और उदुंबरोंके सेवनमें शास्त्रोंमें इस प्रकार दोष बतलाये हैं।

मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
धर्मभावो न मर्त्येषु मधोदुंबरसेविषु ॥

अर्थ—मांस भक्षण करनेवालेके कभी दया नहीं हो सकती। मद्यपान करनेवालेके कभी सत्यका पालन नहीं हो सकता। और सब प्रकारके उदुंबर फलोंके भक्षण करनेवाले मनुष्यके कभी धर्म धारण करनेके भाव नहीं हो सकते।

भावार्थ— मांस भक्षण करनेवालेके परिणाम स्वभावसे ही क्रूर हो जाते हैं। प्रथम तो उन्हें मांसकेलिये जीवोंका वध करना पडता है। यदि कदाचित् उन्हें वह वध अपने हाथसे न करना पडे तो भी उनके

परिणाम क्रूर अवश्य हो जाते हैं। भोजनका असर बुद्धिपर अवश्य पडता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको सदा शुद्ध भोजन करना चाहिये। मांसका तो सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिये। दयारूप परिणाम सदा अन्नाहारसे ही हो सकता है। मांस भक्षणसे कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार मद्यपान करनेवाला मनुष्य कभी सत्य नहीं बोल सकता। प्रथम तो वह बेसुध ही हो जाता है और उस अवस्थामें वह मन मानी निःसार बातें बका करता है। यदि वह होशमें भी हो तो भी मद्यके प्रभावसे उसका आत्मा मलिन हो जाता है। और मलिन परिणाम उस आत्माको सत्यसे हटा देते हैं। जिस प्रकार वह मद्यपान करनेमें किसी प्रकारकी ग्लानि नहीं समझता उसी प्रकार मिथ्या भाषण करनेमें भी वह पाप नहीं समझता। और इसलिये ही वह फिर सदा मिथ्या भाषण ही करता रहता है। उदुंबर फलोंके भक्षण करनेमें भी असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है। एक एक उदुंबर फलमें रहनेवाले दिखते हुए बडे जीवों की संख्या असंख्यात होती हैं। उन फलोंको खानेवाले उनको साबूत ही खा जाते हैं। इस प्रकारके एक ही फलके खानेमें वे असंख्यात जीवोंका घात करते हैं—असंख्यात जीवोंका मांस खा जाते हैं—और इस प्रकार महा पापका उपार्जन करते हैं। कदाचित् कोई प्राणी उन फलोंमेंसे उन जीवोंको उडाकर खावे तो भी उडाने या निकालनेके बाद भी उन में हजारों अंडे बचे रह जाते हैं जो कि उनमेंसे निकल ही नहीं सकते। इसलिये उनके शोधकर खानेमें भी वह हिंसा और मांससे बच नहीं सकता। अतएव उदुंबर फल खानेवालोंके कभी दयाधर्मका पालन नहीं हो सकता। इसलिये दयाधर्म पालन करनेकेलिये इन उदुंबर फलोंका सर्वथा त्याग कर देना ही उचित है।

आगे फिर भी दयाका ही धर्म सिद्ध करते हैं।

धेनुस्त्रीबालवालानां धर्मो यद्यस्त्यहिंसने ।
तदा हि परमोधर्मः सर्वसत्वदयावताम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि गाय, स्त्री, ब्राह्मण और बालकोंके न मारनेमें धर्म समझा जाता है तो फिर समस्त जीवोंपर दया करना परम धर्म ही समझना चाहिये।

भावार्थ—यदि जीवोंके मारनेमें पाप नहीं है तो फिर गायके मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये, स्त्रीके मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये, ब्राह्मणोंके मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये और बालकोंके मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये। परंतु इन जीवोंके मारनेमें पाप अवश्य समझा गया है। यदि इन जीवोंके मारनेमें पाप है तो सब जीवोंके मारनेमें भी पाप है। यदि इन जीवोंकी रक्षा करनेमें पुण्य है तो फिर समस्त जीवोंकी रक्षा करनेमें भी अवश्य पुण्य है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि समस्त जीवोंकी दया पालन करना ही परम धर्म है। दयाके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता।

आगे फिर भी हिंसाका त्याग करनेके लिये कहते हैं।

सर्वे सर्वैः समं प्राप्ताः संबंधा देहिभिर्यतः।
संबंधिनो निहन्यन्ते ततस्तान् हिंसता ध्रुवम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस संसारमें सब प्राणियोंको सब संबंध एकसे प्राप्त हुए हैं इसलिये जो मनुष्य उन प्राणियों की हिंसा करता है वह उनके संबंधियों की हिंसा भी करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी मनुष्यके मर जानेपर उसके सब कुटंबियोंको दुःख होता है उसी प्रकार जिस प्राणीको शिकारी या कसाई लोग मारते हैं उसके साथ रहने वालोंको भी अवश्य दुःख होता है। जिस प्रकार पुत्रके मरजानेपर मा बापको दुःख होता है उसी प्रकार उस प्राणीके मारदेनेपर उसके मा बापको भी अवश्य दुःख होता है। इस प्रकार एक जीवकी हिंसासे अनेक जीवोंकी हिंसा हो जाती है। इसलिये किसी प्राणीकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिये।

आगे हिंसकोंके सब पुण्यकार्य व्यर्थ हैं ऐसा दिखलाते हैं।

व्रतं शीलं तपो दानं यतित्वं नियमो विधिः ।
सर्वेपि निष्फला यान्ति हिंसासंरंभवर्तिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य हिंसा करनेका उपक्रम किया करते हैं हिंसा करनेका विचार किया करते हैं उनके व्रत शील तप दान महाव्रत, नियम विधान आदि समस्त पुण्य कार्य निष्फल हो जाते हैं ।

भावार्थ—व्रत शील तप दान संयम आदि कार्य सब जीवोंकी रक्षाकेलिये किये जाते हैं । परंतु जो मनुष्य हिंसाके विचार भी किया करता है और व्रत शील आदि यम नियमोंका भी पालन किया करता है उसके व्रत शील आदि सब व्यर्थ समझना चाहिये । क्योंकि हिंसा करनेका विचार करनेवालेके जीवोंकी रक्षा हो ही नहीं सकती । इसलिये हिंसा करना तो दूर रहा हिंसा करनेका उपक्रम भी कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे हिंसा करनेवाले प्राणीके आत्माकी भी हिंसा होती है ऐसा दिखलाते हैं ।

देहिहिंसात्मनो हिंसा दया तस्यात्मनो दया ।
वध्यहंत्रोस्ततो नास्ति विशेषः परमार्थतः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता है उसके आत्माकी हिंसा सबसे पहले होती है । तथा जो मनुष्य अन्य प्राणियों पर दया करता है उसकी आत्मापर सबसे पहिले दया होती है । इस प्रकार जिस जीवकी हिंसा की जाती है और जो जीव हिंसा करता है उन दोनोंमें वास्तविक रीतिसे कुछ भी अंतर नहीं है ।

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपके घात करनेको हिंसा कहते हैं इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि क्रोध मान माया लोभ मोह मद मत्सर आदि आत्माके विकार उत्पन्न होनेको हिंसा कहते हैं आत्मामें जब विकार उत्पन्न होते हैं उस समय आत्माका शुद्ध स्वभाव अवश्य नष्ट हो जाता है । तथा किसी प्राणीकी हिंसा करनेके पहिले अथवा उस हिंसाका विचार करनेके पहिले क्रोधादिक विकार अवश्य

उत्पन्न होते हैं। विना क्रोधादिक विकारोंके उत्पन्न हुए हिंसा या हिंसाके विचार हो ही नहीं सकते। इसलिये हिंसा करनेवालेके आत्माका घात उस हिंस्य जीवके घातके पहले हो जाता है और इस प्रकार हिंसा करनेवालेकी ही हिंसा पहले हो जाती है। उसी हिंसाके फल स्वरूप वह प्राणी उस हिंस्य जीवकी हिंसा न कर सकनेपर भी नरक निगोदके दुःख अवश्य भोगता है। क्योंकि हिंसा करनेके विचार करते समय ही उसके अशुभ कर्मोंका बंध हो जाता है। इसलिये हिंसा करनेके विचार तक भी कभी नहीं करना चाहिये।

आगे फिर भी हिंसाका फल दिखलाते हैं।

सदा मांद्यं सदा दैन्यं सदा दौस्थ्यं सदा भयम्।
भवे भवे भवेत्तस्य येन हिंसा समाश्रिता॥ २७॥

अर्थ— जो मनुष्य हिंसा करता है उसको भव भवमें सदा दीनता और दरिद्रता बनी रहती है। वह भव भवमें सदा दुःखी रहता है। उसे भव भवमें सदा अनेक प्रकारके भय बने रहते हैं। और वह भव भवमें सदा रोगी मूर्ख व अभाग्यशाली बना रहता है।

भावार्थ— हिंसा करनेवाला अनेक जन्मों तक सदा दुःखी ही रहता है। हिंसक जीव कभी सुखी नहीं रह सकता।

आगे मधु वा शहतके दोष बतलाते हैं।

बहुधा सत्वसंताननिष्पत्तिमलमंदिरम्।
सर्वापवित्रवस्तूनां रसमादाय निर्मितम्॥ २८॥
निष्पलार्द्धत्रसव्रातसंमर्द्दनरसोद्भवम्।
त्रससत्त्वाननोद्वान्तं निन्द्यान्निन्द्यतरं मधु॥ २९॥

अर्थ— मधु प्रायः अनेक मक्खियोंके अंडे बच्चोंसे उत्पन्न हुए मलका घर है, सब तरहके अपवित्र पदार्थोंके रसको ग्रहण कर बनाया जाता है। ला भग आधी मक्खियोंके निचोडनेसे हुये रससे बनता है और त्रस पर्यायको धारण करनेवाली मक्खियोंके मुहसे उगला हुआ रस है। इस

प्रकार विचार करनेसे मालूम होता है कि मधु अत्यंत निंद्य पदार्थोंसे भी अधिक निंद्य है।

भावार्थ—यदि विचार कर देखा जाय तो शहत अत्यंत निंद्य पदार्थ है। मक्खियां फूलोंका रस ग्रहण करती हैं तथा अन्य अपवित्र पदार्थोंके रसको भी ग्रहण करती हैं। वह सब रस उनके पेटमें पकता रहता है। पाक होते होते वह शहतके रूपमें परिणत हो जाता है। जिस प्रकार गिलोय नींबू आदि पदार्थोंका सत निकाला जाता है उसी प्रकार यदि उन फूलोंके रसका सत निकाला जाय तो वह कभी शहत नहीं बन सकता। शहत तो मक्खीके उदरमें ही पक कर बनता है। पकने और शहत रूपमें परिणत हो जानेके बाद मक्खियां उसे मुंहके रास्ते बाहर उगलती हैं। वही शहत कहलाता है। इस प्रकार प्रथम तो वह मक्खियोंके पेटकी उगलन होनेके कारण अपवित्र है। दूसरे जिस जिस पदार्थका पाक पेटमें होता है और फिर वह पदार्थ बाहर निकलता है उसमें विष्टाके समान या वमन किये हुए पदार्थके समान अनेक जीवोंके उत्पन्न होनेकी शक्ति हो जाती है और फिर प्रत्येक समयमें उसमें अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं तथा मरते भी रहते हैं। इस प्रकारसे भी शहत अत्यंत अपवित्र है तथा उसके सेवन करनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है। इसके सिवाय शहत निकालनेवाले बडे बडे छत्तोंसे मक्खियोंको उडा देते हैं और फिर उन छत्तोंको निचोडकर शहत निकालते हैं। ऐसा करनेसे असंख्यात मक्खियोंको दुःख होता है। उनका खाने पीनेकी सामग्रीसे भरा हुआ घर छूट जाता है जिससे उन्हें बहुत ही दुःख और संताप होता है। दूसरे यद्यपि उन छत्तोंमेंसे बडी बडी मक्खियां उड जाती हैं तथापि अनेक अंडे बच्चे उनके भीतर रह ही जाते हैं। उन छत्तोंके निचोडते समय उन सब अंडे बच्चोंका अर्क उस शहतमें आ जाता है। उन अंडे बच्चोंके शरीरमें रुधिर मांस होता ही है इसलिये उस शहतमें रुधिर मांसका अर्क भी आता है। तथा जिस

पदार्थमें रुधिर मांसका अर्क रहता है वह रुधिर मांसके समान ही अपवित्र होता है और उसमें रुधिर मांसके समान ही क्षण क्षणमें असंख्य जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। इस प्रकार भी शहत किसी भी प्रकार सेवन करने योग्य नहीं है। वह रुधिर मांसके समान ही अत्यंत निंद्य पदार्थ है।

आगे शहतके खानेमें और भी भारी पाप बतलाते हैं।

मधुबिन्दुलवास्वादाद्ये सत्वाः प्रविदारिताः।
पल्लीदाहेऽपि तावन्तो भवन्ति न भवन्ति वा ॥ ३० ॥

अर्थ—शहतकी एक बूंदके एक भागको खानेमें भी जितने जीवोंकी हिंसा होती है उतने जीवोंकी हिंसा एक गांवके जलानेमें भी हो अथवा न भी हो।

भावार्थ—एक गांवके जलानेमें असंख्यात जीवोंकी हिंसा होती है इसीलिये किसी गांवका जलाना महा पाप समझा जाता है। परंतु शहतकी एक बूंदके एक छोटेसे टुकडेके खालेनेमें उससे भी अधिक जीवोंकी हिंसा होती है। इसलिये उस अणुमात्र शहतके खानेमें भी महापाप होता है। अतएव महापापोंसे बचनेके लिये शहतका परित्याग दूरसे ही कर देना चाहिये।

आगे शहतके और भी दोष दिखलाते हैं।

भिल्लस्थालीष्वमेध्यासु लिप्तासु रुधिरामिषैः।
सर्वत्र संस्थितं पूर्वं पवित्रं हंत नो मधु ॥ ३१ ॥

अर्थ— प्रायः शहतको भील लोग ही लाते हैं। वे अपने वर्तनोंमें रखते हैं तथा उनके वर्तन रुधिर मांससे सने रहते हैं। उन्हीं वर्तनोंमें वह शहत रक्खा जाता है। इस प्रकार सब जगह अपवित्र पदार्थोंमें रक्खा हुवा शहत कभी पवित्र नहीं हो सकता।

भावार्थ—भील लोग मांसाहारी ही होते हैं। जिन वर्तनोंमें वे रुधिर मांस रखते हैं उन्हीं वर्तनोंमें विना धोये साफ किये शहत

लाकर रख देते हैं। इस प्रकार भी शहत महा अपवित्र और सर्वथा त्याग करने योग्य है वास्तवमें देखा जाय तो वह भी मांसादिके ही समान है इसलिये बुद्धिमान मनुष्योंको शहतका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। ※

आगे औषधिके लिये भी शहतका निषेध करते हैं।

नौषधेऽपि मधु स्वाद्यं पुंसा धर्ममुपेयुषा।
देहार्थे न विनाश्योऽयं यतो धर्मः सनातनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धारण करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको औषधियोंमें भी शहतका प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस शरीरके लिये किसी प्राणीका घात कभी नहीं करना चाहिये—यही अनादि कालसे चला आया धर्म है।

भावार्थ—यह धर्म अनादि कालसे चला आ रहा है और इस वर्तमान कालमें भी विद्यमान है कि अपने शरीरके लिये किसी भी प्राणीका घात नहीं करना चाहिये। फिर शहतकी एक बूंदके एक छोटे टुकडेमें तो असंख्यात जीवोंका घात होता है। ऐसी अवस्थामें अपने

※ लिखा भी है—

मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकनिपीडतात्।
जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥

अर्थ—यह शहत मक्खियोंके गर्भसे (पेटसे) निकलता है अनेक अंडे बच्चोंके निचोडनेसे उत्पन्न होता है और इसीलिये वह गर्भसे निकले हुए जराके समान महा अपवित्र है। अतएव सज्जन लोग उसे किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं कर सकते।

भावार्थ—कोई कोई मनुष्य शहत को परम पवित्र मानते हैं। परंतु यदि शहतकी उत्पत्ति आदि पर विचार किया जाता है तो मालूम होता है कि शहत स्पर्श करने योग्य भी योग्य नहीं है। फिर उसका खाना तो बहुत दूर रहा। इसलिये दयालु गृहस्थोंको शहत कभी किसी काममें नहीं लाना चाहिये।

शरीरकेलिये इतने जीवोंका घात करना सर्वथा अनुचित और अयोग्य है। इसलिये धर्मात्मा पुरुषोंको औषधिकेलिये भी शहत काममें नहीं लाना चाहिये। उसका खाना तो दूर रहा उसके स्पर्श करने तकका त्याग कर देना चाहिये।

आगे—उदुंबर फलोंके खानेमें दोप दिखलाते हैं।

सर्वोदुम्बरमध्यस्था दृश्यन्ते विविधास्त्रसाः।
तथैव बहुशस्तत्र स्थावराः समयोदिताः ॥ ३३ ॥

अर्थ—संसारमें जितने उदुंबर फल हैं उन सबके भीतर अनेक त्रस जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। तथा उनमें अनंत ही स्थावर जीव होते हैं ऐसा शास्त्रोंमें प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—पीपरफल, वरगद (बडके फल) गूलर, अंजीर और पाकर फल इनको उदुंबर फल कहते हैं। इनमें प्रत्यक्ष अनेक त्रस जीव दिखलाई देते हैं जो तोडनेसे उड भी जाते हैं। बहुतसे लोग उन फलोंको साबूत खा जाते हैं जिससे उन्हें असंख्यात जीवोंके मारनेका और उनके मांस खानेका महापाप लगता है। यदि उन फलोंको तोडकर उन जीवोंको उडाकर भी खाया जाय तो भी केवल बडे बडे जीव उड जांयगे, छोटे छोटे अंडे बच्चे अनेक त्रस जीव तो उनमें रह ही जाते हैं। इसलिये इस प्रकार खानेमें भी अनेक जीवोंके मारने और उनके मांस खानेका महा पाप लगता ही है। इसके सिवाय उनमें अनंत स्थावर जीव प्रतिक्षण उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। उनकी हिंसाका महापाप भी उन खानेवालोंको अवश्य लगता है। इस प्रकार उदुंबर फलोंका खाना महापापका कारण है। दयालु गृहस्थोंको कभी उनका भक्षण नहीं करना चाहिये। सदाकेलिये उनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये[1]।

१—लिखा भी है—

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि।

आगे मद्यमांस खानेवालोंके पात्रमें तथा उनके साथ भोजन पानका निषेध करते हैं।

मद्यादिस्वाद्यमत्रेषु पानमन्नं तु नाहरेत्।
दूरतो हि विधातव्यस्तत्सम्बन्धोशनादिषु॥ ३४॥

अर्थ– मद्य मांसका भक्षण करनेवाले गृहस्थोंके वर्तनोंमें कभी अन्न पानी ग्रहण नहीं करना चाहिये। तथा भोजन पान करते समय उनका संबंध दूर ही रखना चाहिये।

आगे चमडेके पात्रोंका और पक्वानका निषेध करते हैं।

दृतिप्रायेषु पात्रेषु तोयं स्नेहं तु नाश्रयेत्।
नवनीतं न धर्तव्यमूर्ध्वं तु प्रहरार्द्धतः॥ ३५॥

अर्थ–चमडेके वर्तनोंमें पानी वा घी तेल आदि पदार्थ कभी नहीं रखना चाहिये। तथा आधे पहरसे ऊपर मक्खनको कभी नहीं रखना चाहिये।

प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः॥

अर्थ– पीपल, अंजीर, पाकर, गूलर, वरगद आदि फलोंमें अनेक स्थूल जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, और सूक्ष्म जीव भी आगमके अनुसार जाने जाते हैं।

भावार्थ–जब मद्य मांस मधु अत्यंत अपवित्र पदार्थ हैं—और इतने अपवित्र हैं कि स्पर्श करने योग्य भी नहीं हैं तब फिर जिन वर्तनोंमें वे रक्खे जाते हैं वे वर्तन भी अत्यंत अपवित्र होजाते हैं और वे भोजन करने वा पानी पीने योग्य नहीं रहते। इसलिये जो लोग मांसादिक का सेवन करते हैं उनके वर्तनोंमें कभी भोजन पान नहीं करना चाहिये। तथा ऐसे लोगोंके पास बैठकर भी भोजन पान नहीं करना चाहिये। भोजन पान करते समय ऐसे लोगोंका संबंध किसी प्रकार भी नहीं रखना चाहिये। उनसे बहुत अलग होकर भोजन पान करना चाहिये।

भावार्थ–चमडा अत्यंत अपवित्र पदार्थ है इसलिये उसमें रक्खे हुए पानी घी तेल आदि पदार्थ भी अत्यंत अपवित्र हो जाते हैं। अतएव ऐसे पदार्थोंका ग्रहण कभी नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार आधे पहरके ऊपर मक्खनमें अनंत जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये आधे पहरसे ऊपर मक्खनको कभी रखना ही नहीं चाहिये। आधे पहरसे पहिले उसको गरम कर घी बना लेना चाहिये।

आगे व्यसनोंके त्याग करनेकेलिये कहते हैं।

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिः परदारता।
स्तेयेन सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—द्यूत (जूआ खेलना) मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, परस्त्री और चोरी ये सात व्यसन कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टीको इन सातों का त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ जूआ खेलना सबसे बडा पाप है। जूआ खेलनेवाला जब हार जाता है तब चोरी करता है। जब जीत जाता है या चोरीमें धन मिल जाता है तब उस धनसे मद्य पान करता है। मद्यके नशेमें आकर वेश्या सेवन करता है, मांस खाता है, परस्त्री सेवन करता है और शिकार खेलता है। इस प्रकार एक जूआके खेलनेसे सब व्यसन और सब दोष अपने आप आ जाते हैं। जूआ खेलनेका पडा हुआ अभ्यास बडी कठिनतासे छूटता है। इसलिये जूआ खेलने का अभ्यास कभी नहीं करना चाहिये। जहां जूआ हो तो वहां देखनेकेलिये भी खडा नहीं होना चाहिये। क्योंकि देखते देखते संभव है कि उसका मन चल जाय और वह जूआ खेलने लग जाय। इसलिये जूआका खेल देखना भी पापका कारण है। इसी प्रकार वेश्यासेवन, परस्त्री सेवन, चोरी करना पापका कारण है। शिकार खेलना भी महापापका कारण है क्योंकि शिकार खेलनेमें जान बूझ कर निरपराध जीव मारे जाते हैं जिनके मारनेमें महा हिंसा

और महा पाप होता है। इस लिये इन सातों व्यसनोंका त्याग कर देना चाहिये।

आगे बतलाते हैं कि यद्यपि अन्न भी प्राणियोंके शरीरसे उत्पन्न होता है और मांस भी प्राणियोंके शरीरसे उत्पन्न होता है तथापि अन्न ग्राह्य है; मांस ग्राह्य नहीं है।

धेन्वादीनां पयः पेयं न मूत्रादि स्वभावतः।
विषापहस्महेरत्नं विषं तु मृतिसाधनम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विष भी सर्पसे उत्पन्न होता है और रत्न भी सर्पसे उत्पन्न होता है परंतु विष मृत्युका कारण है और रत्न उस विषको दूर करनेवाला है। उसी प्रकार गाय आदिका दूध तो पीने योग्य है परंतु मूत्र आदि पीने योग्य नहीं है। यह पदार्थोंका स्वभाव ही ऐसा है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थका स्वभाव अलग अलग होता है और जिस पदार्थका जैसा स्वभाव है वह वैसा ही रहता है। स्वभाव किसीका बदलता नहीं है। रत्न और विष दोनों ही सर्पसे उत्पन्न होते हैं परंतु रत्नका स्वभाव विषको दूर करनेवाला है और विषका स्वभाव मृत्युका कारण है। यद्यपि दोनों एक योनिसे उत्पन्न होते हैं तथापि दोनोंका स्वभाव अलग अलग है। इसी प्रकार गायका दूध पवित्र है–ग्रहण करने योग्य है परंतु गायका मूत्र ग्रहण करने योग्य नहीं है–वह स्वभावसे पवित्र नहीं है; दूध ही स्वभावसे पवित्र है। इसलिये दूध ही ग्रहण करने योग्य है; मूत्र ग्रहण करने योग्य नहीं है।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

पयः पेयं पलं हेयं समे सत्यपि साधने।
विषद्रोहायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विषवृक्षके पत्ते तो आयु बढानेवाले होते हैं परंतु उसी वृक्षकी जड आयुको नाश करनेवाली होती है। इसी प्रकार दूध और मांस एक ही शरीरसे उत्पन्न होते हैं तथापि दोनोंका स्वभाव

अलग अलग है—दूध पवित्र है इसलिये ग्रहण करने योग्य है परंतु मांस अपवित्र है इसलिये वह ग्रहण करने योग्य नहीं है।

आगे और भी इसी बातको दिखलाते हैं।

शरीरावयवत्वेपि मांसे दोषो न सर्पिषि।
धेनुदेहस्रुतं मूत्रं न पुनः पयसा समम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यद्यपि मांस और घी दोनों ही शरीरके अवयव हैं तथापि मांसमें दोष है; घीमें दोष नहीं है। गायके शरीरसे मूत्र भी निकलता है और दूध भी निकलता है परंतु मूत्र दूधके समान नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार एक शरीरसे उत्पन्न होते हुए भी मूत्र दूधके समान नहीं हो सकता। दूध अपने स्वभावसे ही पवित्र है और मूत्र अपने स्वभावसे मलिन ही है। उसी प्रकार एक शरीरसे उत्पन्न होते हुए भी मांस और घी दोनों समान नहीं हो सकते। घी पवित्र है और ग्रहण करने योग्य है तथा मांस अपवित्र है और सदाकेलिये त्याग करने योग्य है।

आगे धर्म समझ कर हिंसा करना वा मांस खाना बुरा है ऐसा दिखलाते हैं।

यस्तु मांसादिलौल्येन धर्मं धर्मेति भाषिते।
मांसास्वादाद्विधेर्ध्वंसात्स स्यात्पापद्वयाश्रयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मनुष्य मांसके सेवन करनेमें अत्यंत लोलुपी होकर धर्म कहता हुआ मांसका सेवन करता है वह अपने शुभ कर्मोंको नष्ट करता है और इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें पाप कर्मोंका संग्रह करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार राजा सूरसेन मांस खानेकी लोलुपतासे तंदुल मत्स्य हुआ था और वहांसे मरकर सातवें नरक पहुंचा था उसी प्रकार मांस खानेकी लोलुपतासे अनेक जन्मोंतक नरक निगोदादिके दुःख भोगना पड़ता है।

पापी हास्यं लभेतासौ मांसलौल्येन धर्मधीः ।
परदारं विधातेव मात्रा सार्द्धं नराधमः ॥ ४१ ॥

अर्थ– जिस प्रकार परस्त्री सेवन करनेवाला कोई नीच मनुष्य यदि अपनी माताके साथ व्यभिचार सेवन करे तो वह हसीका पात्र होता है उसी प्रकार जो पापी धर्म समझकर मांस खानेकी लोलुपता करता है वह नीच मनुष्य भी हसीका पात्र होता हैं ।

भावार्थ– परस्त्री सेवन करना महापाप है । परंतु जो परस्त्री सेवन करनेवाला पापी अपनी माताके साथ व्यभिचार सेवन करता है वह महापापी तो होता ही है परंतु साथमें ऐसे मनुष्यकी सब कोई हसी करता है । इसी प्रकार मांस खानेमें महापाप तो हैं ही परंतु जो मांस खानेवाला धर्म समझकर मांस खाता हैं या मांस खानेकी लालसा करता है वह महापापी भी होता है और सब संसार उसकी हसी करता है । धर्म और पाप दोनों विरोधी हैं । जहां धर्म होगा वहां पाप नहीं होगा और जहां पाप होगा वहां धर्म नहीं होगा । इसलिये मांस भक्षणसे कभी धर्म नहीं हो सकता और न कभी किसीको धर्म समझकर मांस भक्षण करनेकी लोलुपता करनी चाहिये ।

आगे अणुव्रतोंको कहते हैं ।

हिंसास्तेयानृताब्रह्मधनाशानां निवृत्तयः ।
स्वल्पानीन्द्रियमानानि व्रतानि व्रतमेधिनाम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह इन पांचो पापोंका एकदेश त्याग कर देना और इंद्रियोंका प्रमाण कर लेना व्रतियोंके लिये व्रत कहलाते हैं ।

भावार्थ—अणुव्रत पांच हैं। उनमेंसे संकल्प पूर्वक त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देना अहिंसा अणुव्रत है । स्थूल झूठके बोलनेका त्याग कर देना सत्याणुव्रत है । रक्खी हुई पडी हुई भूली हुई किसी की चीजको नहीं लेना स्थूल चोरीका त्याग कर देना अचौर्याणुव्रत है । अपनी स्त्रीमें

सन्तोष रखकर अन्य समस्त स्त्रियों को माता बहिनके समान देखना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। और अपनी शक्तिके अनुसार परिग्रहका परिणाम कर लेना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है। इस प्रकार अणुव्रत धारण करनेसे इंद्रियोंका परिमाण हो जाता है इसीलिये ये पांचों ही व्रत कहलाते हैं।

आगे अहिंसा अणुव्रतको दिखलाते हैं।

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितदायिनी ।
दुर्लभा सैव संसारमरावमृतसिंधुवत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—किसी जीवको किसी प्रकारका दुःख न देना—सबको सुख पहुंचाने की इच्छा रखना अहिंसा है। यह अहिंसा समस्त जीवोंको माताके समान हित करनेवाली है। परंतु इस संसाररूपी मरुस्थलमें अमृत—सागरके समान यह अहिंसा अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ—जिस प्रकार मारवाडमें जहांपर सब ओर बालू ही बालू दिखाई देती है वहांपर अमृतसे भरे हुए महासागरका होना अत्यंत दुर्लभ है। मरुस्थलमें पानीका मिलना ही अत्यंत कठिन है। फिर अमृतके समुद्रका होना अत्यंत ही दुर्लभ है। उसी प्रकार इस संसारमें अहिंसा धर्मकी प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है। अत्यंत शुभ कर्मोंके उदयसे और प्रबल मोहनीय कर्मके शांत होनेसे या मंद होनेसे अहिंसा धर्मकी प्राप्ति होती है। इसीलिये अहिंसा धर्मको धारण करनेका संयोग प्राप्त होनेपर कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। यह मनुष्यजन्म बार बार प्राप्त नहीं होता है। अतएव मनुष्य जन्म पाकर अहिंसा धर्म अवश्य धारण करना चाहिये। जिस प्रकार माता अपने पुत्रका हित सदा चाहती रहती है उसी प्रकार यह अहिंसा जीवोंका सदा कल्याण करती रहती है।

यह प्राणी अहिंसा धर्म धारण करके ही इस संसारसे पार हो सकता है। इसीलिये यह अहिंसा सब जीवोंका कल्याण करनेवाली है। जो अहिंसा धर्म धारण करते हैं उनका भी कल्याण होता है और वे किसीको दुःख नहीं देते या उनसे किसीको भी दुःख नहीं पहुंचता। इसी-

लिये उसी अहिंसासे सब जीवोंको सुख पहुंचता है। इस प्रकार अहिंसा धर्म सबको सुख देनेवाला है इससे इस लोकमें भी सुख मिलता है और परलोकमें भी सुख मिलता है। इसलिये सुख चाहनेवाले तथा आत्मकल्याण करनेवाले जीवोंको यह अहिंसा व्रत अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे अहिंसा व्रतसे लाभ बतलाते हैं।

यो भूतेष्वभयं दद्याद् भूतेभ्यस्तस्य नो भयम्।
यादृशं दीयते दानं तादृशं लभ्यते फलम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य समस्त जीवोंको अभयदान देता है उसे किसी भी प्राणीसे किसी प्रकारका भय नहीं होता है। सो ठीक ही है। क्योंकि जो जैसा दान देता है उसे वैसा ही फल मिलता है।

भावार्थ—जो जितनी अहिंसा पालता है वह उतना ही सुखी होता है तथा उससे अन्य जीव भी उतने ही सुखी होते हैं। मुनिराज परम अहिंसा पालन करते हैं इसीलिये वे स्वयं परम सुखी होते हैं और उनसे समस्त जीव सुखी रहते हैं। यहांतक कि वनके सिंह हरिण आदि जातिविरोधी जीव भी अपना विरोध छोडकर सब एक साथ उनके पास आ बैठते हैं।

आगे प्रकारान्तरसे अहिंसाणुव्रतका लक्षण कहते हैं।

देवतातिथिपित्र्यर्थं मंत्रौषधभयाय वा।
न हिंस्याद्देहिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥ ४५ ॥

अर्थ— जो किसी देवताके लिये अतिथि वा घरमें आए अभ्यागत वा पाहुनेके लिये, पिता पितामह आदि पूर्व पुरुषाओंके लिये, किसी मंत्रकी सिद्धिकेलिये, कोई औषध बनानेकेलिये अथवा किसी भयको दूर करनेकेलिये किसी भी प्राणीको नहीं मारता अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

भावार्थ— देवताकेलिये हिंसा करना—उसपर बलि चढाना, किसी अतिथिको मांस खिलानेकेलिये पशुको मारना, श्राद्धकेलिये पशु मारना,

यज्ञमें पशु मारना, मंत्रकी सिद्धिकेलिये किसी जीवको मारना, किसी औषधिके बनानेकेलिये किसी जीवको मारना, किसी भयको दूर करनेके लिये किसी जीवको मारना आदि सब महा हिंसा है। इन सबमें संकल्पी हिंसा होती है। इसलिये इन सबकी हिंसाका त्याग कर देना अहिंसाणुव्रत है।

आगे अहिंसा व्रतकेलिये और भी कहते हैं।

त्रससर्वप्रयत्नेन प्रारंभः प्रविधीयताम् ।
द्रवद्रव्यं तथा सर्वं वस्त्रपूतं निपीयताम् ॥ ४६ ॥

अर्थ– इस संसारमें जिस किसी कामका प्रारंभ किया जाय वह प्रयत्नपूर्वक यत्नाचारपूर्वक त्रस जीवोंकी रक्षा करते हुए ही करना चाहिये। तथा पानी, तेल, घी आदि पतले पदार्थ सब कपडेमें छानकर काममें लाना चाहिये।

भावार्थ– प्रत्येक कार्य यत्नाचारपूर्वक करना चाहिये। जिससे कि किसी कामके करनेमें किसी त्रस जीवका घात न हो जाय। प्रत्येक कार्यमें त्रस जीवोंकी रक्षा करना गृहस्थका प्रथम कर्तव्य है। इसी प्रकार दूध, घी, तेल, पानी आदि सब पदार्थ कपडेमें छानकर काममें लाने चाहिये। विना छाने कोई भी पतले पदार्थ काममें नहीं लाने चाहिये।

आगे अहिंसाणुव्रतका फल दिखलाते हैं।

परमायुः परं रूपं परमं बुद्धिवैभवम् ।
परं प्रभुत्वमैश्वर्यमहिंसा येन पालिता ॥ ४७ ॥

अर्थ–जो मनुष्य अहिंसा व्रतका पालन करता है वह पूरी आयु पाता है, अत्यंत रूपवान होता है, अत्यंत बुद्धिमान होता है और परम ऐश्वर्य पाता है।

भावार्थ—संसारमें जो जो उत्तम पद हैं, जो कुछ सुखकी सामग्री है, जो कुछ बडप्पन है और जो कुछ ज्ञान दर्शन आदि आत्माके गुण प्रगट होते हैं वे सब अहिंसा धर्मके प्रभावसे ही होते हैं। संसारमें

अहिंसा धर्म ही सर्वोत्तम धर्म है । सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारके सुख इससे प्राप्त होते हैं और परम्परासे मोक्ष भी इसीसे प्राप्त होती है ।

आगे अहिंसाणुव्रत पालन करनेवालेको क्या करना चाहिये सो कहते हैं ।

सर्वं वस्तु परामृश्यं मृदुवस्त्रान्तपल्लवैः ।
दृशा पूतं निषेवेत पन्थानं शयनासनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—कोमल वस्त्रके अंतिम भागसे शोधकर तथा देखकर सब पदार्थोंको काममें लाना चाहिये । मार्ग भी देखकर चलना चाहिये, तथा सोने बैठनेकी जगह और बिछोने आदि सब देख कर काममें लाने चाहिये ।

भावार्थ—सब पदार्थोंको देख शोधकर काममें लाना चाहिये, देख शोधकर उठाना चाहिये, देख शोधकर रखना चाहिये । देखकर चलना चाहिये, देखकर बिछोना बिछाना चाहिये और देखकर ही बैठना चाहिये । सब काम देख शोधकर करना चाहिये जिसमें किसी जीवकी हिंसा न हो जाय । जीवोंकी रक्षाका ध्यान प्रत्येक काममें और प्रत्येक समयपर रखना चाहिये ।

आगे अहिंसाव्रतके पालन करनेकेलिये किन किन पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये सो बतलाते हैं ।

सन्धानं पुष्पितं मिश्रं पुष्पं मूलं फलं दलम् ।
तथान्तर्विवरप्रायं हेयं नालीदलादि यत् ॥ ४९ ॥

अर्थ—अचार, फूले हुए पदार्थ, मिश्र, पुष्प, मूल, फल, दल, और जिनमें भीतर पोल हो ऐसे नाली आदि पदार्थ कभी नहीं खाने चाहिये ।

भावार्थ—अचार वा संधानमें त्रस जीवोंकी भी उत्पत्ति हो जाती है इसलिये अचार कभी नहीं खाना चाहिये । जिस रोटी पूड़ी

या अन्य खानेके पदार्थोंपर सफेद सफेद फूलन आ जाती है वे पुष्पित वा फूले हुए पदार्थ कहलाते हैं। जब कोई चीज विगड जाती है तभी उसपर फूलन आती है। वह फूलन अनंत जीवोंका समुदाय है इसलिये ऐसे पदार्थ कभी नहीं खाने चाहिये। मुरब्बा ऐसे पदार्थ मिश्र कहलाते हैं। इनमें भी अचारके समान त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये ऐसे पदार्थोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये। गोभी आदिके फूलोंमें भी त्रस जीव होते हैं। फूलोंमें कुछ न कुछ सुगंधि अवश्य रहती है और उस सुगंधिके ही कारण उसमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। आलू अरवी मूली सकरकंद आदि मूल कहलाते हैं। इन कंदमूलोंमें अनंतकाय स्थावर जीव होते हैं इसलिये इनका त्याग कर देना चाहिये। तथा ऐसे फल ऐसे पत्ते भी नहीं खाने चाहिये जिनमें त्रस जीव उत्पन्न होते हों या अनंतकाय हों। कमलकी डंडी और ऐसे और भी पत्ते जिनमें भीतर पोली जगह हो और जीव उत्पन्न होनेका स्थान हो, कभी नहीं खाने चाहिये। ये सब अभक्ष्य पदार्थ हैं और अहिंसा धर्मको पालन करनेवाले श्रावकोंको सर्वथा त्याग कर देने योग्य हैं।

आगे और भी ऐसे पदार्थोंको दिखलाते हैं।

बहुशोनंतदेहास्त्वमृतवल्ल्यादिसंश्रयाः ।
सिंवयोपि नहि प्राश्या यतस्तास्त्रससंहिताः ॥ ५० ॥

अर्थ—गिलोय आदि वेलोंके आश्रय अनंत जीव रहते हैं इसलिये वे सर्वथा त्याग करने योग्य हैं। तथा सेम आदि फलियां भी नहीं खानी चाहिये। क्योंकि उनमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—जिनमें अनंत जीवों का आश्रय हो ऐसे गिलोय आदि पदार्थोंके खानेमें लाभ थोडा होता है और हिंसा बहुत होती है। तथा सेम मटर होला आदि की फलियोंमें त्रस जीव पड ही जाते हैं इसलिये ऐसे पदार्थ भी नहीं खाना चाहिये। यद्यपि सेम मटर आदि फलियोंमें से शोध लेनेपर त्रस जीव अलग किये जा सकते हैं तथापि फिर उन जी-

वों की रक्षा होना कठिन ही है अतएव ऐसे पदार्थोंसे भी अलग रहना अच्छा है ।

आगे रात्रिभोजन त्यागके लिये कहते हैं ।

निशायामशनं हेयमहिंसाव्रतवृद्धये ।
मूलव्रतविशुद्धयर्थं यमार्थं परमार्थतः ॥ ५१ ॥

अर्थ – मूल व्रतोंको शुद्ध रखनेकेलिये और अहिंसाव्रतको बढाने केलिये तथा अहिंसा व्रतको यथार्थ रीतिसे धारण करनेकेलिये रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ—मच्छर आदि ऐसे बहुतसे जीव हैं जो दिनमें नहीं निकलते, रात्रिमें ही निकलते हैं। तथा वे साधारण प्रकाशमें दिखाई भी नहीं दे सकते। ऐसे अनेक जीव भोजनमें मिल जाते हैं और वे किसी प्रकार अलग नहीं किये जा सकते। रात्रि भोजन करनेवालोंको उन सब जीवोंकी हिंसाका पाप और उनके मांस खानेका पाप लगता है। यदि रात्रिमें उन जीवोंको देखनेकेलिये लैंप आदिका प्रकाश किया जाय तो उस प्रकाशके सहारेसे और भी अनेक जीव आजाते हैं और भोजनमें मिल जाते हैं। इसलिये रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग सदाकेलिये कर देना चाहिये। रात्रिभोजनका त्याग किये विना न तो अहिंसा व्रत पल सकता है और न मूलगुण ही शुद्ध हो सकते हैं। इसलिये श्रावकोंके लिये रात्रिभोजनका त्याग करना अत्यावश्यक है।

आगे और भी रात्रिभोजनकेलिये कहते हैं।

श्राद्धं नैव नवा स्नानं नाहूतिर्दैवतो विधिः ।
दानं नो विहितं रात्रावशनं तन्निषिध्यते ॥ ५२ ॥

अर्थ–रात्रिमें न तो श्राद्ध किया जाता है न स्नान किया जाता है न आहुति दी जाती है न देवता संबंधी और कोई विधि की जाती है और न दान दिया जाता है। इसीलिये भोजनका भी रात्रिमें निषेध किया जाता है।

भावार्थ— जब स्नान करना भी रात्रिमें निषिद्ध बतलाया है तब भोजनका निषेध तो होना ही चाहिये। रात्रिमें जो श्राद्ध और स्नान आदिका निषेध किया गया है वह जीवोंकी रक्षाके अभिप्रायसे ही किया गया है। जो लोग रात्रिमें भोजन करना बुरा नहीं समझते उनके मनमें ही श्राद्ध स्नान आदिका निषेध है। जब रात्रिमें सब कर्मोंका निषेध है तो भोजनका निषेध अवश्य होना चाहिये। तथा वह रात्रिभोजनका निषेध लगभग सब मतोंमें सब पुराणोंमें हैं। तथा उसका निषेध इतनी प्रबलतासे किया है कि रात्रिमें किये हुए भोजनकी उपमा मांससे दी है और रात्रिमें पिये हुए पानीकी उपमा रुधिरसे दी है। इसलिये श्रावकोंको तो वह रात्रिभोजन कभी नहीं करना चाहिये। रात्रि-भोजनके त्याग करनेसे अनेक जीवोंकी रक्षा होती है। हिंसा व मांस भक्षणके पापसे बचना होता है और स्वास्थ्य अच्छा रहता है। रात्रि भोजन प्रकृतिके विरुद्ध है, इसलिये वह स्वास्थ्यके लिये भी अत्यंत हानिकारक है। प्रायः देखा गया है कि अनेक विषैले जानवर भोजनमें मिलकर मनुष्यके प्राण तक हरण कर लेते हैं। इस प्रकार रात्रि-भोजनके त्यागसे इस लोकमें भी अनेक प्रकारकी हानियोंसे बचाव हो जाता है और अहिंसा धर्मका पालन होनेसे परलोक भी सुधर जाता है। इसलिये रात्रि-भोजन का त्याग करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है।

आगे रात्रि भोजनमें और भी दोष दिखलाते हैं।

भूतप्रेतादिभिर्यत्रामत्र रात्रौ सहास्यते।
त्रसा वा नैव दृश्यन्ते ततो हेयं निशाशनम् ॥ ५२ ॥

अर्थ— रात्रिमें भोजनके त्याग करनेका एक कारण यह भी है कि रात्रिमें भूत प्रेत आदि सब जगह फिरा करते हैं। वे सब उसी बर्तनमें साथ खाजाते हैं। उसके सिवाय रात्रिमें फिरते हुए बहुतसे त्रस जीव दिखाई नहीं देते। इसलिये रात्रि भोजन त्याग सदाकेलिये कर देना चाहिये।

भावार्थ—रात्रिमें भूत प्रेत आदि फिरा करते हैं उनके स्पर्शसे वह अन्न अभक्ष्य हो जाता है। रात्रि भोजन करनेवालोंको वही अभक्ष्य भक्षण करना पडता है। तथा रात्रिमें अनेक छोटे छोटे जीव दिखाई नहीं देते; वे सब भोजनमें मिल जाते हैं। इन सब दोषोंके कारण रात्रि भोजनका त्याग कर देना ही सर्वथा योग्य है।

आगे द्विदलके त्याग करनेका उपदेश देते हैं।

संयुतं द्विदलं हेयमामैस्तु मथितादिभिः।
निष्पद्यन्ते यतस्तत्र विविधास्त्रसदेहिनः ॥ ५४ ॥

अर्थ—चना मूग उडद अरहर आदि जिन अन्नोंके दो दाल बराबर हो जांय उनको द्विदल कहते हैं। ऐसे द्विदल कच्चे दही आदिके साथ मिलाकर कभी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि उनके मिलानेसे और मुहकी लवका संयोग होनेसे उसमें अनेक प्रकारके त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—कच्चे दूध, कच्चे दही और कच्चे दूधके जमे हुए दही की छाछमें द्विदल अन्न मिलाकर खानेसे पेटमें ही अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये दहीमें मिलाकर द्विदल अन्न कभी नहीं खाना चाहिये।

आगे किसी द्वीन्द्रिय आदि जीवकी हिंसा हो जानेपर प्रायश्चित्त करनेकेलिये कहते हैं।

प्रमादाद्दर्पतो वापि द्वीन्द्रियादिविराधने।
नीतिशास्त्राविरोधेन यतिपार्श्वे विशोधयेत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—यदि किसी प्रमादसे अथवा क्रोधादि कषायोंके उदय होनेसे दो इंद्रिय वा ते इंद्रिय आदि जीवोंकी हिंसा हुई हो तो नीति शास्त्रका विरोध न करते हुए किसी मुनिराजके पास प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।

भावार्थ—प्रमाद वा अहंकारसे किसी त्रस जीवका घात हो जाय

तो उसका प्रायश्चित्त लेकर इसकी शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये। तथा वह प्रायश्चित्त किसी मुनि वा त्यागीके ही समक्ष लेना चाहिये। और वह प्रायश्चित्त इस प्रकार लेना चाहिये जिसमें किसी भी नीतिशास्त्रसे विरोध न हो।

आगे पुण्य पापके कारण परिणाम ही हैं ऐसा बतलाते हैं।

मृतेपि न भवेत्पापममृतेपि भवेद् ध्रुवम् ।
पापधर्मविधाने हि स्वान्तं हेतुः शुभाशुभम् ॥ ५६ ॥

अर्थ — जीवोंके मर जानेपर भी पाप नहीं होता और विना मरे भी पाप अवश्य लग जाता है। इस प्रकार पाप और पुण्यके होनेमें केवल शुभ अशुभ परिणाम ही कारण हैं।

भावार्थ—यदि किसी जीवको बचानेके परिणाम हों और बचानेके उपाय करते हुए भी वह मर जाय तो उसके मरनेसे उस उपाय करनेवालेको कुछ पाप नहीं लगता। इसी प्रकार यदि किसी जीवको मारनेके परिणाम हों और वह मारनेकेलिये प्रयत्न करे परंतु मारनेके प्रयत्न करनेपर भी वह बच जाय तो भी वह मारनेका प्रयत्न करनेवाला पापी ही है। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य पाप किसी जीवके न मरने वा मरनेसें नहीं होता किंतु अपने जैसे परिणाम होंगे वैसा ही पुण्य वा पाप होगा। यदि अपने परिणाम शुभ होंगे तो पुण्य होगा और यदि अपने परिणाम अशुभ होंगे तो पाप होगा। चाहे उनसे कोई जीव मरे वा बचे। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपने परिणाम सदा शुभ रखने चाहिये। अशुभ परिणामोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे काय-वचनकी प्रवृत्तिको कहते हैं।

भाषाया वपुषो वापि शुभाशुभसमाश्रया ।
वृत्तिः स्वान्तादपूर्वेयं तदत्र प्रयतो भवेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मनकी प्रवृत्ति शुभ और अशुभ होती है उसी प्रकार वचन और शरीरकी प्रवृत्ति भी शुभ और अशुभ होती है। तथा

वह शरीर और वचनकी शुभ अशुभ प्रवृत्ति मनसे सर्वथा भिन्न है। इस लिये वचन और शरीरकी प्रवृत्ति भी यत्नाचारपूर्वक करनी चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार मनमें शुभ परिणाम ही रखने चाहिये, अशुभ परिणामोंका त्याग कर देना चाहिये उसी प्रकार वचन और शरीरकी क्रियाएं भी सब शुभ ही करनी चाहिये। अशुभ वा पापजनक वचनोंका तथा ऐसी ही शरीरकी क्रियाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे वचन और शरीरकी पापरूप क्रियाओंको कहते हैं।

स्तेयाब्रह्महिंसादि पापं देहाश्रितं विदुः।
पैशुन्यासत्यपारुष्यप्रायं भाषोद्भवं तथा ॥ ५८ ॥

अर्थ— चोरी करना, मैथुन करना, हिंसा करना आदि पाप सब शरीरके आश्रित समझने चाहिये। और चुगली खाना, झूठ बोलना, कठोर वचन कहना आदि पाप भाषा वा वचनके आश्रित समझना चाहिये।

भावार्थ — जो पाप शरीरसे किये जाते हैं वे शारीरिक पाप हैं और जो पाप वचनसे किये जाते हैं वे वाचनिक हैं। अहिंसा अणुव्रत पालन करनेकेलिये इन दोनों प्रकारके पापोंका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि इन सबमें हिंसा होती है।

आगे मानसिक पापोंको बतलाते हैं।

मदेर्ष्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम्।
परं प्रभुत्वसामर्थ्यं सर्वत्र मनसो भवेत् ॥ ५९ ॥

अर्थ—अहंकार वा घमंड करना, ईर्ष्या वा डाह करना, दूसरेकी प्रशंसाको सहन न करना, दूसरेकी निंदा करना आदि सब पाप मनसे उत्पन्न होते हैं। ये ऐसे पाप हैं जो केवल मनसे होते हैं। तथा वचन वा शरीरसे होनेवाले जितने भी पाप हैं उन सबमें मनकी सहायता—मनकी सामर्थ्य अवश्य होती है।

भावार्थ—मन सब इंद्रियोंका प्रभु वा स्वामी है। इंद्रियां जितना व्यापार करती हैं उन सबमें सैनी जीवोंके मन अवश्य सहायक होता है।

सैनी जीवोंके विना मनकी प्रवृत्तिके कोई इंद्रिय काम नहीं कर सकती। इसलिये वचन और शरीरसे होनेवाले पापोंमें भी मन सहायक होता है और अहंकार ईर्ष्या, निंदा, दूसरेका बुरा चिंतवन आदि पाप स्वतंत्र भी करता है। यदि मन वशमें हो जाय तो फिर यह जीव सब पापोंसे बच सकता है। इसलिये अहिंसाव्रतको दृढ करनेकेलिये मनको वशमें करना चाहिये। इसको अच्छे विचारोंमें लगा देना चाहिये और बुरे विचारोंसे सर्वथा हटा लेना चाहिये¹।

आगे हिंसा तथा अहिंसाकेलिये और भी कहते हैं।

यद्यारम्भो ध्रुवं हिंसा नारम्भो वा न हिंसनम्।
यत्नायत्नौ परं स्यातां निदानं धर्मपापयोः॥ ६०॥

अर्थ—यदि आरंभ करना हिंसा है तो आरंभ न करना अवश्य ही अहिंसा है। इनमेंसे आरंभ यत्नपूर्वक किया जाता है और अनारंभ विना प्रयत्नके ही हो जाता है। तथा आरंभ पापका कारण है और अनारंभ धर्मका कारण है।

भावार्थ—आरंभ करनेमें कुछ न कुछ हिंसा अवश्य होती है। यदि आरंभमें मन वचन कायकी प्रवृत्ति तीव्र कषायोंसे की जाती है तो तीव्र हिंसा होती है और उससे महा पापका बंध होता है। यदि वह मन वचन कायकी प्रवृत्ति मंद हुई और कषाय भी मंद हुई तो कम पाप होता है। परंतु यह नियम है कि जहां आरंभ होता है वहां हिंसा और पाप होता अवश्य है। और वह आरंभ प्रयत्नपूर्वक किया जाता है। विना किये आरंभ होता ही नहीं। यदि उस कामके करनेके लिये प्रवृत्ति न की जाय—उसकेलिये कुछ प्रयत्न न किया जाय तो आरम्भ हो ही नहीं सकता। आरम्भका न होना ही अनारंभ है। उसमें कोई किसी प्रकारका पाप नहीं होता। वह अनारंभ धर्मका मूल कारण है। इससे यह सिद्ध होता

१ जिन जीवोंके मन नहीं है उनकी इंद्रियां स्वतंत्र व्यापार करती हैं। उनकेलिये मनकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती।

है कि पाप करनेकेलिये तो हमें प्रयत्न करना पडता है परन्तु धर्म आत्माका स्वाभाविक गुण है उसकेलिये कुछ प्रयत्न नहीं करना पडता वह सहज और स्वभावसे ही होता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको धर्म की ओर ही अपने आत्माको लगाना चाहिये। उसे आरम्भ और प्रवृत्तियोंकी ओर कभी नहीं झुकाना चाहिये।

आगे उदाहरण देकर हिंसाका त्याग करनेकेलिये कहते हैं।

हिंसातो यद्भवेत्पापं तद् व्रतैरेव शाम्यति।
नोपवासशतैः साध्यो व्याधिः शाम्यति सर्पिषा ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो पाप हिंसासे उत्पन्न होता है वह पाप व्रतोंसे ही शांत होता है। जो रोग सैकडों उपवास करनेसे दूर हो सकता है वह रोग घी पीनेसे कभी शांत नहीं होता।

भावार्थ—जो रोग सैकडों उपवास करनेसे दूर हो सकता है वह घी पीनेसे वा अन्य पौष्टिक पदार्थोंके खानेसे कभी दूर नहीं हो सकता। घी वा पौष्टिक पदार्थोंके खानेसे तो वह रोग और बढता है। उसी प्रकार जो पाप हिंसासे उत्पन्न होता है वह पाप अन्य प्रकारकी हिंसा करनेसे दूर नहीं हो सकता। वह पाप तो हिंसा झूठ चोरी आदि समस्त पापोंका त्याग कर व्रतोंको धारण करनेसे ही दूर हो सकता है। पापोंसे बचनेके लिये और कोई उपाय नहीं है। अतएव पापोंसे बचनेकेलिये व्रत धारण करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

आगे वह पाप कुदानसे भी दूर नहीं होता ऐसा बतलाते हैं।

हेमादिपशुभूमीनां रामाशय्यान्नवाससाम्।
दानैर्बहुविधैरेतैः पापं नैव प्रशाम्यति ॥ ६२ ॥

अर्थ—सोना, चांदी, पशु, भूमि, स्त्री, शय्या, अन्न, वस्त्र आदि अनेक प्रकारकी चीजोंके दान देनेसे वह पाप कभी शांत नहीं होता।

भावार्थ—जिस दानके देनेवाले और लेनेवाले दोनोंहीके आत्माका कल्याण हो वही दान सुदान कहलाता है। और जिस दानसे हिंसा हो

तथा जो परंपरासे हिंसाका साधन हो वह दान नहीं, कुदान कहलाता है। सोना, चांदी, पशु, भूमि, स्त्री आदिके दानसे किसीके आत्माका कल्याण नहीं होता, किंतु उलटा पाप होता है। जो मनुष्य दानमें सोना चांदी लेगा, पशु लेगा, भूमि लेगा, वह सिवाय आरंभके और क्या कर सकेगा। तथा आरंभमें हिंसा होती ही है। इस प्रकार इन सबका दान हिं-साका कारण है-पापका कारण है। इनसे पाप नष्ट नहीं हो सकता। इसलिये इनका दान कुदान है। श्रावकोंको कभी नहीं देना चाहिये। यदि चैत्य चैत्यालयका सतत खर्च चलानेकेलिये सोना चांदी भूमि आदिका दान दिया जाय तो वह धर्मकी वृद्धिका कारण है—परंपराकेलिये धर्म चलाने-वाला है इसलिये वह कुदान नहीं है, किंतु वह सुदान है।

आगे हिंसादि पापोंको शांत करनेकेलिये क्या करना चाहिये सो बतलाते हैं।

मनोभाषावपुर्दान्त्या तपसित्वा परं तपः ।
पात्रे दानं ततो देयं हिंसादोषनिवृत्तये ॥ ६३ ॥

अर्थ—हिंसासे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दूर करनेकेलिये मन वचन कायको दमन करना चाहिये। उत्तम तपश्चरण करना चाहिये और फिर पात्रोंको दान देना चाहिये।

भावार्थ—संसारमें जितने पाप हैं वे सब मन वचन काय की क्रियाओंसे होते हैं। यदि मन वचन काय तीनों वशमें हो. तीनोंका दमन किया जाय तो फिर पाप नहीं हो सकता। यदि मन वचन काय वशमें न हो सके तो फिर उपवास आदि बारह प्रकारका उत्तम तपश्चरण करना चाहिये। तपश्चरण करनेसे आगेके कर्म भी नहीं आते और पिछले कर्म भी सब नष्ट हो जाते हैं। तथा जो मनुष्य मन वचन कायको भी वशमें नहीं रख सकता और तपश्चरण भी नहीं कर सकता उसे उत्तम पात्रोंको दान देना चाहिये। दानका फल उतना ही उत्तम होगा जितना कि लेनेवाला पात्र उत्तम होगा। इसका भी

कारण, आहारदानसे मोक्षका कारणभूत तपश्चरण किया जाता है इस-लिये दान देनेवाला भी मोक्ष मार्गकी प्रवृत्तिमें सहायक गिना जाता है। और इसप्रकार वह अनंत पुण्यका भागी होता है। श्रावकोंको दान देना और भगवान अरहंत देवकी पूजा करना ये दो मुख्य कर्तव्य बतलाये हैं। गृहस्थीमें होनेवाले आरंभ संबधी सब पाप इन दोनों कर्तव्योंसे नष्ट हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येक श्रावकको दान पूजा ये दोनों कार्य सदा करते रहना चाहिये।

आगे अचौर्याणुव्रतको कहते हैं।

परस्वस्याप्रदत्तस्यादानं स्तेयमुदाहृतम् ।
सर्वस्वाधीनतोयादेरन्यत्र तन्मतं सताम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—नदी कूएका जल वा खानिकी मिट्टी आदि ऐसे पदार्थ जो सर्व साधारण लोगोंकेलिये खुले हुए हैं जिनके लेनेकेलिये राज्यकी ओरसे वा अन्य किसीकी ओरसे कोई किसी प्रकारकी रोक टोक नहीं है ऐसे पदार्थोंको छोड कर दूसरेके धनको वा किसी भी पदार्थको विना दिया हुआ ग्रहण करना सज्जनोंके मतमें चोरी गिनी जाती है।

भावार्थ—जिन पदार्थोंमें लेने देनेका व्यवहार होता है ऐसे दूसरे-के विना दिये हुये पदार्थोंको लेना चोरी है और चोरीका त्याग कर देना अचौर्याणुव्रत है।

आगे अचौर्याणुव्रत पालन करनेकेलिये और भी विधि बतलाते हैं।

मन्दिरे मन्दिरद्वारे पथि स्थाने वनेस्वुनि ।
नन्यान्यदीयमादेयं स्वापतेयव्रतार्थिभिः ॥ ६५ ॥

अर्थ — व्रत धारण करनेकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको किसी मंदिरमें, मकानमें, मकान वा मंदिरके दरवाजेपर, मार्गमें वा अन्य किसी स्थानमें, किसी वनमें वा पानीके भीतर रक्खे हुए, पडे हुए, भूले हुए, दूसरेके धनको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ— किसी दूसरेका धन वा कोई अन्य पदार्थ चाहे जहां

पड़ा हो उसे कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। उसे वहीं छोड देना चाहिये। यदि वह धन वहीं पडा रहेगा तो कभी न कभी अपने स्वामीको अवश्य मिल जायगा। यदि उस धनका कोई स्वामी न हो तो वह धन राजाका समझा जाता है। ऐसे धनको भी कभी नहीं लेना चाहिये। श्रावकके इस प्रकारके व्रत पालन करनेको अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

आगे अचौर्याणुव्रतीकेलिये और भी उपदेश देते हैं।

वंश्यानामत्यये वित्तमदत्तमपि सम्मतम्।
समर्पितं निदेशेन व्रतहानिरतोन्यथा ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि अपने कुनवामें कोई ऐसा पुरुष मर जाय जिसके धनका अधिकारी पुत्र पौत्र आदि कोई न हो तो उसके धनको विना दिया हुआ भी लेलेनेमें अचौर्याणुव्रतमें कोई दोष नहीं लगता। इसका भी कारण यह है कि वह धन अपने ही कुलका है इसलिये उसके वंशमें किसी दायादके न रहनेपर उस धनपर अपना अधिकार रहता है इसीलिये उससे अचौर्याणुव्रतमें कोई दोष नहीं आता। इसी प्रकार अपने वंशमें कोई धनी हो और वह स्वयं अपने धनको दे देवे अथवा उस धनको लेनेकेलिये आज्ञा दे देवे तो उस धनके ले लेनेमें भी अचौर्याणुव्रतमें कोई दोष नहीं लगता। इन दोनों प्रकारके धनको छोडकर और किसी प्रकारका किसीका धन ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि ग्रहण किया जायगा तो उससे अचौर्याणुव्रत नष्ट हो जायगा।

आगे अचौर्याणुव्रतकेलिये और भी विशेष बतलाते हैं।

द्रव्यं निधिनिधानोत्थं भूपादन्यस्य नो भवेत्।
निरीशस्य यतः स्वस्य दायादो मेदिनीपतिः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो द्रव्य किसी खजानेसे निकला हो या भूमिसे निकला हो तो वह धन राजाका होता है। राजाके सिवाय अन्य कोई उसका स्वामी नहीं हो सकता। इसका भी कारण एक नीतिशास्त्रका नियम है कि जिस धनका कोई स्वामी न हो उसका अधिकारी वा स्वामी राजा ही होता है।

भावार्थ—जिस धनका कोई स्वामी न हो उसका स्वामी राजा होता है इसलिये ऐसे धनका ग्रहण करना भी चोरी है। अचौर्याणुव्रतीको कभी ऐसा धन नहीं लेना चाहिये।

विस्मृतं पतितं न्यस्तं निहितं मन्दिरादिषु ।
स्वापतेयं तदादेयं नान्यदीयं मनीषिभिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो दूसरेका धन किसी मंदिर वा गुफा पर्वत आदिपर रक्खा हो, कोई भूल गया हो, किसीका पड गया हो या कोई छिपाकर रख गया हो ऐसे दूसरेका धन भी बुद्धिमान लोगोंको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—ऐसे गिरे पडे धनको ले लेना भी चोरी है। बुद्धिमानोंको कभी ऐसा धन नहीं लेना चाहिये।

परद्रव्याशयाल्लोभः स्वल्पोपि परिवर्द्धते ।
मन्दोपि वर्द्धते वन्हिरिंधनैः सह सर्पिषा ॥ ६९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ईंधन और घीके साथ थोडीसी भी अग्नि बढकर बहुत हो जाती है उसी प्रकार थोडासा भी लोभ दूसरेके धनके ग्रहण करनेकी इच्छासे बढकर बहुत भारी हो जाता है।

भावार्थ जैसा घी और ईंधन डाला जाता है वैसी ही वैसी अग्निकी लौ बढती जाती है। घी डालते ही लौ बढती जाती है। उसी प्रकार यदि लोभ थोडा भी हो और दूसरेका धन ग्रहण करनेकी इच्छा की जाय तो वह थोडासा भी लोभ बढकर बहुत हो जाता है। दूसरेके धनकी इच्छा होते ही लोभ बढ जाता है इसलिये दूसरेके धनके ग्रहण करनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

सर्वेप्यपहृते द्रव्ये पुमांसो विह्वलाशयाः ।
म्रियन्ते शस्त्रनिर्भिन्नमर्मगला नरा यथा ॥ ७० ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिन लोगोंका मर्मस्थान शस्त्रोंसे छिद भिद गया है ऐसे मनुष्य शीघ्र मर जाते हैं उसी प्रकार जिन लोगोंका धन

हरण कर लिया जाता है उन लोगोंका हृदय भी व्याकुल हो जाता है और फिर वे घवडा कर शीघ्र ही मर जाते हैं।

भावार्थ—गृहस्थजीवन विना धनके चल ही नहीं सकता--उसके लिये धन अत्यावश्यक है। जब कभी लोग बाहर जाते हैं और चोर लुटेरोंके आनेका समय आजाता है तो लोग यही कहते हैं कि प्राण रहते तो कोई हमसे ले नहीं सकता। हमको मार कर भले ही कोई ले जाय। इससे सिद्ध होता है कि धनको लोग प्राणोंसे भी वढकर मानते हैं। प्राण देनेको तैयार हो जाते हैं पर धन देनेको तैयार नहीं होते। ऐसे प्राणों से प्यारा धन जब हरण कर लिया जाता है तब उन लोगोंको अत्यंत ही दुःख होता है। मारे दुःखके वे लोग मरेसे हो जाते हैं और उनमेंसे बहुतसे लोग तो उस दुःखसे तथा आगामी कालमें गृहस्थजीवन अत्यंत दुःखरूप हो जानेके कारण मर ही जाते हैं। उन सबकी हिंसा उन द्रव्य हरण करनेवालोंको होती है। इसलिये दूसरेका द्रव्य हरण कभी नहीं करना चाहिये। इसका त्याग सदाकेलिये कर देना चाहिये।

आगे चोरी करनेवालेको दोनों लोकोंमें दुःख होता है ऐसा बतलाते हैं।

वधबन्धभयं रोधः सर्वस्वस्यापहारिता।
सर्वत्रेह द्रुतं स्तेयात्परत्र निरयो ध्रुवम् ॥ ७१ ॥

अर्थ— चोरी करनेवालोंको अथवा धन हरण करनेवालोंको इस संसारमें भी सब जगह वध बंधनका भय होता है और वे कारागारमें भी रोके जाते हैं। तथा परलोकमें अवश्य ही उन्हें नरकके दुःख भोगने पडते हैं।

भावार्थ— चोरी करनेवाले वा धन हरण करनेवाले कारागारमें रोके जाते हैं। वहां उनपर खूब मार पडती है। वे खंभोंसे बांधे जाते हैं उनके हाथ पैर सदा बंधे रहते हैं और उन्हें अनेक प्रकारके दुःख दिये जाते हैं। ये सब दुःख तो इसी जन्ममें सहने पडते हैं। तथा परलोकमें

उन्हें नरकमें जाना पडता है और वहांपर सागरों तक अत्यंत कठोर दुःख भोगना पडता है। इसलिये बुद्धिमानोंको चोरीका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे चोरीका फल उदाहरण देकर बतलाते हैं।

श्रीभूतिर्महतीं प्राप्य पुरमध्ये प्रहास्यताम्।
परद्रव्यात्ततो दीनः प्रपेदेनंतसंसृतिम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—श्रीभूति पुरोहित परद्रव्य हरण करनेके कारण अपने नगरमें बडी ही हसीका पात्र हुआ था और फिर दीन होकर उसने अनंत संसारमें परिभ्रमण किया।

भावार्थ—श्रीभूति पुरोहितने अपने सत्य भाषणकी प्रसिद्धि कर रक्खी थी और अपना नाम सत्यघोष प्रगट कर रक्खा था। इस पर लोगोंका विश्वास हो गया था और बहुतसे लोग वहां अपना अपना धन धरोहर रख जाते थे। परंतु वह धूर्त जिसका धन रखनेमें अविश्वास प्रगट होता दीखता था उसका धन दे देता था। और बाकी धन हडप कर जाता था। अंतमें यह सब लीला प्रगट होनेपर राजाने उसे भारी दंड दिया। और अंतमें मरकर उसे अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पडा। इसलिये चोरी वा परद्रव्य हरण किसीको नहीं करना चाहिये और अचौर्याणुव्रत धारण कर आत्मकल्याण करना चाहिये।

आगे अचौर्याणुव्रत वा चोरीके त्यागका फल दिखलाते हैं।

रत्नानि रत्नधामानि रत्नाम्बरविभूतयः।
स्त्रीरत्नादीनि रत्नानि भवन्त्यस्तेयपालनात् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो अचौर्याणुव्रत पालन करते हैं उन्हें अनेक प्रकारके रत्न, रत्नोंके भवन, रत्नजटित वस्त्र, अनेक प्रकारकी विभूतियां और उत्तम उत्तम स्त्रियां आदि अनेक उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—अचौर्याणुव्रत पालन करनेसे इस लोकमें भी सर्वोत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं और परलोकमें भी स्वर्गादिक अनेक सुख प्राप्त होते

हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अचौर्याणुव्रतका पालन करना चाहिये।

आगे सत्याणुव्रतका वर्णन करते हैं।

नासम्भाव्या न दोषस्था सर्वसाधुपदस्थिता।
भाषा भाष्या सतां नित्यं सत्यासत्या हिता मिता ॥७४॥

अर्थ—जो वचन असंभव न हों, किसी दोषसे उत्पन्न न हों, जो मधुर शब्दोंसे बने हों, सबका हित करनेवाले हों, परिमित वा थोडे—काम चलाने योग्य हों ऐसे सत्यासत्य वचन सज्जनोंको सदा बोलने चाहिये।

भावार्थ—वचन चार प्रकारके हैं असत्यसत्य, सत्यासत्य सत्यसत्य और असत्यासत्य। जो वाक्य असत्य तो हों परंतु उनमें कुछ सत्यता हो उनको असत्यसत्य कहते हैं। जैसे कपडे बुनता है। सूत बुना जाता है। सूत बुनकर कपडे तयार होते हैं इसलिये कपडेका वुना जाना असत्य है परंतु बुन कर कपडे ही तैयार होते हैं इसलिये कपडोंका बुनना कुछ अंशमें सत्य भी है। ऐसे वचनोंको असत्यसत्य कहते हैं। जो वचन सत्य हों परंतु उनमें कुछ असत्यता हो ऐसे वचनोंको सत्यासत्य कहते हैं। जैसे तुम्हारा रुपया पंद्रह दिनमें दूंगा ऐसा कहकर भी वीस पचीस दिनमें देना वा महीना भरमें देना। उसने रुपया दिया यह सत्य है परंतु दिया देरसे इतना भाग इसमें असत्य है। ऐसे वचनों को सत्यासत्य कहते हैं। जो पदार्थ द्रव्य क्षेत्र काल भावसे जैसे हों उनको वैसा ही कहना सत्यसत्य है। सत्यसत्यमें असत्यताका अंश सर्वथा नहीं है। तथा जो सर्वथा असत्य हो—जिस में सत्यका कुछ भी अंश न हो ऐसे वचनोंको असत्यासत्य कहते हैं। जैसे जिसके घरमें एक पैसा भी नहीं है और वह कहता है कि वाहजी तुह्मारा रुपया एक कल्पकाल वाद अवश्य दूंगा। इन चारों प्रकारके वचनोंमेंसे असत्यासत्य तो सर्वथा ही त्याग कर देने योग्य है। और बाकीके तीन प्रकारके वचनोंसे लोकव्यवहारका निर्वाह होता है। इसलिये सत्याणुव्रतियोंको तीन प्रकारके वचन बोलने चाहिये तथा वे भी सबका भला

करनेवाले और थोडे बोलने चाहिये। क्योंकि मर्मच्छेदी वचन कहनेसे हिंसा होती है। और अधिक वचन कहनेसे मिथ्या वचन निकल जानेकी संभावना रहती है। इसी प्रकार किसीके निंदारूप वचन वा असंभव वचन नहीं कहना चाहिये। सदा शास्त्रानुकूल हित मित वचन कहना चाहिये।

आगे हिंसाकारक सत्य वचन भी नहीं कहने चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

तत्सत्यमपि नो भाष्यं यत्स्यात्परविपत्तये।
वर्तन्ते येन वा स्वस्य व्यापदस्तु दुरुत्तराः॥ ७५॥

अर्थ— ऐसा सत्य वचन भी नहीं कहना चाहिये जिसके कहनेसे अन्य लोगोंपर आपत्ति आवे। अथवा जिनके कहनेसे अपने ही ऊपर भारीसे भारी आपत्ति आवे।

भावार्थ— किसी चौरायेपर कोई मनुष्य खडा है, उसके सामनेसे कोई जानवर दौडता हुवा चला जाय। उसके पीछे पीछे कुछ देर बाद शस्त्र लिये हुए उसको मारनेवाला कसाई वा अन्य कोई बधिक दौडता आवे और वह उस खडे हुए मनुष्यसे पूछे कि जानवर किधर गया है। ऐसी अवस्थामें वह मनुष्य समझ सकता है कि यदि मैं सच बतलाये देता हूं तो अवश्य ही यह पकडकर उसे मार डालेगा। इसलिये उसकी जान बचानेकेलिये उस समय उसे उल्टा रास्ता बतला देना ही चाहिये। उस समय सत्य भाषण करना उस जानवरकी जान खोना है। इसी प्रकार अपने ऊपर भी सत्य बोलनेसे ऐसी ही कोई आपत्ति आवे तो भी उस सत्यका अर्थ अपनी हिंसा करना है। हिंसाका त्याग करनेकेलिये ही झूठका त्याग किया जाता है क्योंकि झूठ बोलनेमें हिंसा अवश्य होती है। इसलिये जिस सच बोलनेसे ही हिंसा हो वह सच बोलना भी झूठके समान है। इसलिये जिस सच बोलनेसे हिंसा हो ऐसा सच भी कभी नहीं बोलना चाहिये।

आगे कैसी भाषा बोलनी चाहिये और कैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिये सो बतलाते हैं।

रोषागत्ययवैरादिदर्पायासप्रवर्त्तिनी ।
भाषा हेया सदा भाष्या पथ्या तथ्या श्रुतिप्रिया ॥ ७६ ॥

अर्थ-जो भाषा क्रोधके कारण किसीके साथ वैर उत्पन्न करनेवाली हो अभिमान उत्पन्न करनेवाली हो क्लेश वा दुःख उत्पन्न करनेवाली हो ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको भाषा ऐसी बोलनी चाहिये जो कानोंको प्यारी लगनेवाली हो और सबका हित करनेवाली हो।

भावार्थ-क्रोधके कारण कभी कभी ऐसे वचन निकल जाते हैं जो किसीके हृदयमें वैरभाव उत्पन्न कर देते हैं वा अभिमान उत्पन्न कर देते हैं अथवा मर्मच्छेदी होनेके कारण हृदयको दुःख पहुंचाते हैं अथवा अपने ही आत्मामें ये सब विकार उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिये। वचन यथार्थ कहने चाहिये और ऐसे कहने चाहिये जो सबको अच्छे लगें। तथा धर्म विरुद्ध वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये। वचन सदा शास्त्रानुकूल ही कहने चाहिये।

आगे चार प्रकारके असत्य बतलाकर उनका त्याग करानेकेलिये कहते हैं।

निषेधो विद्यमानस्य वस्तुनो यत्र भाष्यते।
तदसत्यं मतं पूर्वं न मृत्युर्देहिनां यथा। ७७।

अर्थ-जहांपर विद्यमान पदार्थोंका निषेध किया जाता है वह पहिला असत्य है जैसे शरीरधारी प्राणियोंकी मृत्यु होती ही नहीं।

भावार्थ-जो पदार्थ विद्यमान है सबके सामने उपस्थित है उसका निषेध करना और कहना कि यह पदार्थ है ही नहीं सो पहला असत्य वा झूठ है। जैसे यह कहना कि संसारी जीवोंकी मृत्यु होती ही नहीं। जीव कोई अलग पदार्थ है ही नहीं, स्वर्ग नरक कहीं हैं ही नहीं; ऐसे वचन मनुष्योंको कभी नहीं बोलने चाहिये।

आगे दूसरा असत्य बतलाते हैं।

भावस्याविद्यमानस्य मिथ्या बुद्ध्या प्रसाधनम्।
स द्वितीयो मृषावादो यथा सिद्धाः पतन्त्यमी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो पदार्थ विद्यमान नहीं है—जिसकी कहीं भी सत्ता नहीं है ऐसे पदार्थोंको भी झूठ मूठ बुद्धिसे कल्पना कर सिद्ध करना दूसरा झूठ है। जैसे सिद्ध भगवान् फिर भी मोक्षसे आकर जन्म लेते हैं।

भावार्थ—जन्म मरण कर्मोंके उदयसे होता है और सिद्ध पद सब कर्मोंके नष्ट होनेसे प्राप्त होता है। इसीलिये सिद्ध भगवान् मोक्षसे कभी लौट नहीं सकते। वे फिर कभी जन्म मरण धारण नहीं कर सकते। परंतु उनके लिये भी यह कहना कि वे मोक्षसे फिर लौटकर जन्म धारण करते हैं। यह वचन दूसरा असत्य है। सत्याणुव्रतियोंको ऐसे वचन कभी नहीं कहना चाहिये।

आगे तीसरा असत्य बतलाते हैं।

भिन्नरूपाः पदार्था ये ते विपर्यासभाविताः।
स तृतीयो मृषावादो यथा सर्वं विषं सुधा ॥ ७९ ॥

अर्थ—पदार्थोंका स्वरूप तो कुछ और है परंतु उसके प्रतिकूल कहना तीसरा झूठ है। जैसे यह सब विष अमृत है।

भावार्थ—विषका स्वभाव मारना है और अमृतका स्वभाव जीवित रखना है। ऐसा होनेपर भी विषको अमृत कहना या अमृतको विष कहना, देवोंको कुदेव कहना या कुदेवों को देव कहना, हिंसा को धर्म बतलाना आदि सब तीसरा झूठ है। ऐसा झूठ भी श्रावकोंको नहीं बोलना चाहिये।

आगे चौथा झूठ बतलाते हैं।

सावद्यादिमहादोषैस्तुरीयं दूषितं मतम्।
यथा यज्ञे हुताः सर्वे पशवो यान्ति स्वःस्थितिम् ॥ ८० ॥

अर्थ—हिंसा आदि महा दोषोंसे भरे हुए सदोष मतोंका प्रचार करना चौथा झूठ है। जैसे जो पशु यज्ञमें होमे जाते हैं वे सब स्वर्ग में चले जाते हैं।

भावार्थ—बहुतसे लोग कहते हैं कि पशु यज्ञकेलिये ही हैं यज्ञमें उन का होम करना ही चाहिये। जो पशु यज्ञमें मर जाते हैं वे स्वर्गमें पहुंच जाते हैं इसलिये उनकी हिंसा हिंसा नहीं कहलाती। इसी प्रकार बहुतसे मनुष्य श्राद्धादिकमें भी मांस भक्षणका विधान करते हैं और कहते हैं कि मद्यमांसादिकके सेवन करनेमें कोई दोष नहीं है। ऐसे सब वचन झूठ हैं. श्रावकोंको और बुद्धिमानोंको ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये।

आगे सत्यवादीकी प्रशंसा करते हैं।

दह्यते न हुताशेन प्लाव्यते नापि सिन्धुना।
धन्यः सत्यबलोपेतः सर्पैरपि न दश्यते ॥ ८१ ॥

अर्थ - जिसके पास सत्य वचनका महाबल विद्यमान है वही मनुष्य संसारमें धन्य है। ऐसा सत्यवादी मनुष्य न तो अग्निमें जल सकता है। न समुद्रमें है; और न उसे सर्प काट सकता है।

भावार्थ—जिसके सत्य भाषणका नियम है उससे संसामें कोई भी पाप नहीं हो सकते क्योंकि वह जो जो पाप करेगा वह सब उसे कहना पडेगा इसी कारण वह सब पापोंसे बच सकता है। तथा जो सब पापोंसे बचेगा उसका आत्मा निर्मल अवश्य होगा। और जिसका आत्मा निर्मल होगा वह अग्नि जल सर्प सिंह आदि सब आपत्तियोंसे बच जायगा। इस लिये श्रावकोंको सदा सत्य वचन ही कहने चाहिये। मिथ्या भाषण कभी नहीं करना चाहिये।

आगे और भी सत्यवादी की प्रशंसा करते हैं।

नरो मातेव विश्वास्यः सर्वमान्यः पितेव वा।
सत्यवादी प्रियो नित्यं सुबंधुरिव देहिनाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—संसारके सब प्राणी माताके समान सत्यवादीका विश्वास करते हैं पिताके समान उसे सर्व पूज्य समझते हैं और भाईके समान सदा प्रिय मानते हैं।

भावार्थ—संसारमें जैसा माताका विश्वास किया जाता है वैसा

अन्यं किसीका विश्वास नहीं किया जाता। परन्तु सत्यवादीका विश्वास मातासे भी अधिक किया जाता है। इसी प्रकार संसारमें सबसे मान्य पिता होता है। पिताको लोग जैसा पूज्य और बडा समझते हैं वैसा अन्य किसीको नहीं। परन्तु सत्यवादी मनुष्यको लोग पितासे भी अधिक पूज्य व बडा समझते हैं। तथा अच्छा सुशील भाई सब भाइयोंको प्यारा होता है। इसी प्रकार सत्यवादी भी सबको प्यारा होता है। कहांतक कहा जाय। सत्य भाषणकी बडी महिमा है। इसलिये सबको सदा सत्य भाषण ही करना चाहिये।

आगे और भी सत्यकी महिमा दिखलाते हैं।

सत्यवादी प्रियो नित्यं शीलैरपि विदूरितः ॥
युतोपि व्रतशीलाभ्यां मृषावादी पराधमः ॥ ८३ ॥

अर्थ—सत्यवादी मनुष्य यदि व्रत शील रहित भी हो तो भी वह सदा सबका प्यारा रहता है। और मिथ्या भाषण करनेवाला यदि व्रत शीलोंसे सुशोभित हो तो भी वह नीच कहलाता है।

भावार्थ-सत्य भाषणकी इतनी महिमा है कि यदि सत्यवादी अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि कोई भी व्रत पालन न करे तो भी लोग उसे मानते हैं और पूज्य समझते हैं। तथा कोई अन्य मनुष्य सब व्रतोंको पालन करता हो परंतु वह मिथ्या भाषण करता हो—झूठ बोलता हो तो लोग उसे नीच ही समझते हैं। झूठ मनुष्यके व्रत पालन भी सब व्यर्थ हैं। इसलिये झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये।

आगे मिथ्या भाषणके दोष दिखलाते हैं।

महापापास्रवद्वारं वितथं प्रथितं सदा ॥
निष्पापोपि वसुस्तस्माद् भूभेदे निरयं ययौ ॥ ८४ ॥

अर्थ—यह मिथ्याभाषण महापापोंके आस्रवका कारण है! देखो राजा वसु सर्वथा निष्पाप था तथापि केवल झूठ बोलनेके कारण उसे नरकमें जाना पडा।

भावार्थ—राजा वसुने झूठ बोलकर सदाके लिये घोर हिंसाकी परिपाटी नियत कर दी। यदि वह उस समय झूठ न बोलता तो आज तक जो यज्ञोंमें असंख्यात पशु मारे गये हैं वे कभी न मारे जाते। उन सब पशुओंकी हिंसाका मुख्य कारण राजा वसुका झूठ बोलना है। और इसी पापके कारण उसे नरकमें जाना पड़ा। इससे सिद्ध होता है कि झूठ संसारके सब महापापोंका कारण है। इसलिये झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये।

आगे प्रिय वचन कहनेवालेकी प्रशंसा करते हैं।

प्रियशीलः प्रियारम्भः प्रियधर्मः प्रियंवदः।
भवेद्दानरतो नित्यं नित्यं परहिते रतः॥ ८५॥

अर्थ— जो मनुष्य मधुर वचन कहनेवाला है वह सबको प्यारा होता है। वह सब काम ऐसे करता है जो सबको प्यारे हों। वह धर्मसे भी प्रेम करता है, दान देनेमें भी लीन होता है और सदा दूसरेका हित करनेमें ही तत्पर रहता है।

भावार्थ— प्रिय वचन कहनेवाला सदा उत्तम कार्य ही करता रहता है; परोपकार ही करता रहता है। इस लिये सबको प्रियवादी ही बनना चाहिये।

सा मिथ्या न भवेन्मिथ्या या यत्यादिप्रसादिनी।
न स्तूयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत्॥ ८६॥

अर्थ— जो वचन मुनि, गुरु वा अन्य धर्मात्मा आदि जीवोंको प्रसन्न करनेवाले हैं वे मिथ्या होनेपर भी मिथ्या नहीं गिने जाते। तथा अपने आप अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये और किसी दूसरेकी निंदा न करनी चाहिये।

भावार्थ— गुरु, मुनि वा अन्य धर्मात्मा जीवोंकी प्रशंसा सदा करते रहना चाहिये। तथा ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये जो अपनी प्रशंसा करनेवाले हों और दूसरेकी निंदा करनेवाले हों। क्योंकि ऐसे वचन प्रायः मिथ्या ही होते हैं।

आगे अप्रिय वचनोंका निषेध करते हैं ।

यत्परस्य प्रियं पथ्यमात्मनोपि तथाहि तत् ।
ततो मुधैव मर्त्योयं परस्याप्रियतत्परः ॥ ८७ ॥

अर्थ— जो वचन दूसरोंके लिये प्रिय और हितकारक होते हैं वे अपने लिये भी प्रिय और हितकारक होते हैं । इस लिये यह मनुष्य व्यर्थ ही दूसरोंको अप्रिय वचन कहनेके लिये तत्पर होता है ।

भावार्थ—जब दूसरोंके लिये प्रिय वचन कहनेमें अपना भी भला होता है तो फिर यह निश्चित है कि दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कहनेमें अपना अकल्याण अवश्य होगा । जब दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कहनेमें अपना ही अकल्याण होता है तो फिर दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कहना व्यर्थ है—कभी नहीं कहने चाहिये ।

आगे अप्रिय वचनोंसे आत्माका बडा भारी अकल्याण होता है ऐसा बतलाते हैं ।

यथा यथा परेष्वेतत्स्वान्ते वितनुते तमः ।
तथा तथात्मदीयोयं मन्दं मन्दं विमुह्यते ॥ ८८

अर्थ—अप्रिय वचन कहनेसे जैसे जैसे दूसरोंके हृदयमें अंधेरा फैलता जाता है वैसे ही वैसे धीरे धीरे यह अपने आत्माका स्वभाव भी मोहित होता जाता है ।

भावार्थ—अप्रिय वचन कहनेसे दूसरोंके हृदयमें चोट पहुंचती है क्लेश होता है और फिर वह प्रतिहिंसा करनेके लिये [बदलेमें दुःख पहुंचानेके लिये] तयार होता है । यही उसके हृदयका अज्ञानांधकार है। जिस प्रकार यह अज्ञानांधकार दूसरेके हृदयमें बढता जाता है, अपना आत्मा भी मोहित होता जाता है । अपने आत्मामें भी अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते रहते हैं । इसलिये दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कभी नहीं कहने चाहिये सदा प्रिय मधुर और शास्त्रानुकूल हितकारक वचन कहने चाहिये ।

आगे कैसी भाषा माननीय समझी जाती है सो कहते हैं ।

भाषा नाम भवेन्मान्या यत्र यत्र प्रवर्तिता ।
मृषेर्ष्यामर्षहर्षाद्यैर्दोषैर्यदि न संश्रिता ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो भाषा झूठ, ईर्ष्या, क्रोध, हर्ष आदि दोषोंसे दूषित न हो वह भाषा चाहे जहां बोली जाय वहींपर वह माननीय समझी जाती है।

भावार्थ—जिस भाषामें क्रोध ईर्ष्या आदि दोष होते हैं वह सब जगह बुरी समझी जाती है और जिसमें ये दोष न हों वह सब जगह अच्छी और मान्य गिनी जाती हैं। इसलिये दूषित भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये सदा निर्दोष भाषा ही बोलनी चाहिये ।

आगे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहते हैं ।

स्वदारनिरतो भव्यो नान्यदारान्समीहते ।
परस्त्रियोस्य भान्तीव माता मातृसुता सुता ॥ ९० ॥

अर्थ— जिसके स्वदारसंतोषका नियम है—जो अपनी स्त्रीको छोडकर अन्य स्त्रियों की कभी इच्छा नहीं करता; जो परस्त्रियोंको माता वहिन और पुत्रीके समान देखता है उसके वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

भावार्थ—अपनी ही स्त्रीमें संतोष रखना—अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवाय अन्य बडी आयु वालियोंको माताके समान देखना, बराबर वालियोंको बहिनके समान देखना, और अपनेसे छोटी स्त्रियोंको पुत्रीके समान देखना, उन्हें देखकर कभी हृदयमें विकार उत्पन्न न होना स्वदारसंतोष व्रत है। इसीको ब्रह्माणुव्रत वा एक देश ब्रह्मचर्य कहते हैं। गृहस्थों वा श्रावकोंको यह ब्रह्माणुव्रत अवश्य धारण करना चाहिये। यह गृहस्थी की शोभा है, मनुष्यताका चिन्ह है और सदाचारका मूल कारण है ।

आगे वेश्या सेवनका त्याग करनेकेलिये कहते हैं ।

मद्यमांसरतां वेश्यां दूरतः परिहापयेत् ।
फेलस्थालमिवैतस्या व्यसनं सर्वनिन्दितम् ॥ ९१ ॥

अर्थ— वेश्या मद्य मांसका सेवन करती है। इसलिये उसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये। यह वेश्या सेवनका व्यसन उच्छिष्ट थालीके समान सब प्रकारसे निंदित और बुरा है।

भावार्थ- जिस प्रकार उच्छिष्ट थाली सर्वथा घृणित, निंदित और दूरसे ही त्याग करने योग्य है, उसी प्रकार वेश्या भी अत्यंत घृणित, निंदित, दूरसे ही त्याग करने योग्य है। वेश्या सेवन करना मनुष्यताके बाहर है। वेश्या सेवन करनेवाला पशुसे भी नीच और बुरा गिना जाता है। उसे मद्य मांस सेवन करनेका दो- लगता है और फिर धीरे धीरे उसे मद्य मांस सेवन करनेका स्वयं भी अभ्यास हो जाता है। वह स्थान ही ऐसा है कि वहां जानेवाला किसी भी दोषसे बच नहीं सकता। इसलिये इसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये।

आगे हेतुपूर्वक ब्रह्मचर्यके पालन करनेका उपदेश देते हैं।

यत्राहिंसादयः सर्वे वर्द्धन्ते पालिते सति।
पालयन्त्येव तद् ब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदाः॥ ९२॥

अर्थ— इस ब्रह्मचर्य व्रतके पालन करनेसे अहिंसा सत्य अचौर्य परिग्रह–परिमाण आदि सब व्रत वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्यके गुणोंको विशद रीतिसे जाननेवाले चतुर मनुष्य इस श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यका पालन अवश्य करते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यके घात करनेमें अनंत जीवोंकी हिंसा होती है। त्रस जीवोंकी भी हिंसा होती है और स्थावर जीवोंकी भी हिंसा होती है। क्योंकि स्त्रियोंके कुच, योनि आदि अनेक स्थानोंमें सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं: विषय सेवन करनेसे वे सब मर जाते हैं और ब्रह्मचर्य पालन करनेसे उन सबकी रक्षा होती है। इसके सिवाय विषय सेवन करनेमें अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं; मोह और ममत्वकी अतिशय वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य पालन करनेसे वह सब छूट जाता है। और इस प्रकार पांचों व्रतोंका पालन हो जाता है। इसलिये ब्रह्मचर्यके महत्वको जाननेवाले चतुर

पुरुष मन वचन काय और व्रत कारित अनुमोदनासे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं।

आगे ब्रह्मचारीको क्या क्या नहीं करना चाहिये सो कहते हैं।

स्मरसंदीपनैर्वृत्तैः स्मरसंदीपनै रसैः।
स्मरसंदीपनैः शास्त्रैः स्मरं नैव प्रदीपयेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ—कामके विकारोंको बढाने वाली अपनी प्रवृत्तियोंसे, कामके विकारोंको बढानेवाले रसोंसे और कामके विकारोंको बढानेवाले शास्त्रों से कामके विकार कभी नहीं बढाने चाहिये।

भावार्थ—बहुतसी प्रवृत्तियां और कर्तव्य ऐसे हैं जिनके करनेसे कामके विकार बढते हैं। बहुतसे पौष्टिक रस ऐसे हैं जिनके खानेसे काम-विकार बढता है। बहुतसे शास्त्र ऐसे हैं जिनके पढने सुननेसे काम-विकार बढता है। ब्रम्हचर्याणुव्रत धारण करनेवालोंको इन कामके वि-कार बढानेवाले सब कामोंका त्याग कर देना चाहिये। उसे न तो ऐसे काम करने चाहिये, न ऐसे पौष्टिक रस खाने चाहिये और न ऐसे शास्त्र पढने वा सुनने चाहिये।

आगे ब्रह्माणुव्रत पालन करनेके लिये और भी शिक्षा देते हैं।

हव्यैरिव हुताशस्य नीरैरिव पयोनिधेः।
दैवात्तृप्तिर्भवेदेषां न पुंसां विषयामिषैः ॥ ९४ ॥

अर्थ—घी आदि हव्य पदार्थोंसे अग्निकी तृप्ति कभी नहीं होती और पानीसे समुद्रकी तृप्ति कभी नहीं होती। कदाचित् किसी कारणसे इनकी भी तृप्ति हो जाय तो भी विषयोंकी लोलुपतासे मनुष्योंकी तृप्ति कभी नहीं होती।

भावार्थ—विषयोंकी लोलुपता ज्यों ज्यों बढती जाती है त्यों त्यों मनुष्योंकी इच्छाएं प्रबल होती जाती हैं। विषयोंके सेवन करनेसे वे इच्छाएं नष्ट नहीं होती किंतु दिन दूनी रात चौगुनी बढती जाती हैं। जैसे घी डालनेसे अग्नि बढती है, कम नहीं होती। इस कामेच्छा वा कामाग्निको शांत करनेकेलिये संतोष ही प्रबल कारण है। संतोषरूपी

जलसे यह कामाग्नि बहुत शीघ्र शांत हो जाती है । इसलिये ब्रह्माणुव्रतियोंको सदा संतोष धारण करना चाहिये ।

आगे इन विषयोंकी अवस्था दिखलाते हैं ।

प्रारम्भे मधुरास्वादा विषया विषसन्निभाः ।
ततोन्ते विपरीता ये तेषु नाम मुधा भ्रमः ॥ ९५ ॥

अर्थ—ये विषय विषके समान हैं । सेवन करते समय प्रारंभमें तो अच्छे और मधुर जान पडते हैं परन्तु अन्तमें विपरीत फल देते हैं । इसलिये इनमें सुखका भ्रम करना व्यर्थ है ।

भावार्थ—जिस प्रकार दादके रोगीको दाद खुजाते समय अच्छा लगता है परन्तु खुजानेसे उस दादमेंसे खून बरसने लगता है और दाद बढ जाता है । उसी प्रकार विषय भी सेवन करते समय अच्छे लगते हैं परन्तु अन्तमें उनके फलसे नरक निगोदके भयंकर दुःख भोगने पडते हैं । विष भी खानेमें मीठा लगता है परंतु मनुष्य मर ही जाता है । इसी प्रकार विषय भी सेवन करते समय अच्छे लगते हैं परंतु अंतमें उनके फलसे अनंत संसारमें परिभ्रमण करना पडता है । इसलिये विषय सेवनका त्याग कर देना ही आत्माको सुख पहुंचानेवाला है ।

आगे झूट मूठके दिखावेके व्रतोंसे कुछ फल नहीं होता यह बात दिखलाते हैं ।

बहिस्तत्त्वं तपस्तन्वन् स्वान्ते मदनदोहदः ।
वेषव्रती न निर्वाति यावद्भावं न संश्रयेत् ॥ ९६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य बाहरसे अनेक तत्त्वोंका चिंतवन करता है, तपश्चरण करता है परंतु जिसके काम सेवनकी इच्छा विद्यमान है ऐसा छल कपटको धारण करनेवाला ढोंगी मुनि वा व्रती जब तक कि उत्तम भावों को धारण नहीं करता तब तक वह कभी मुक्त नहीं हो सकता ।

भावार्थ—मोक्ष वा सुख दुःखका कारण परिणाम है । अशुभ परिणाम दुःखका कारण है, शुभ परिणाम सुखका कारण है और शुद्ध परि-

णाम मोक्षका कारण है। जिस मनुष्यके हृदयमें काम सेवन की इच्छा है वह बाहरसे चाहे जितने व्रत पालन करे, चाहे जितना तप करे और चाहे जितने ऊपरी ढोंग बनावे; उसके परिणाम कभी शुद्ध वा शुभ नहीं हो सकते। जहां जहां काम सेवनकी इच्छा होती है वहां वहां नियमसे अशुभ परिणाम ही होते हैं। और जिसके अशुभ परिणाम होते हैं उसे कभी सांसारिक सुख भी नहीं मिल सकता; मोक्ष सुख की बात तो दूर है। वह तो कभी मिल ही नहीं सकता। इसलिये इस विषय वासनाको हृदयसे निकाल डालना ही चाहिये। विषयवासनाको हृदयसे निकालकर और मनको शुद्ध कर फिर जप तप व्रत आदि करना चाहिये। विना मनको शुद्ध किये तप जप करना सब व्यर्थ है।

आगे यह कामाग्नि क्या क्या हानि करती है सो दिखलाते हैं।

स्वाध्यायध्यानधर्मैधान् यो दहत्येव निर्दयम् ।
दूरं दूरं सदा हेयो भैरवो हि स्मरानलः ॥ ९७ ॥

अर्थ–यह कामरूपी अग्नि बडी ही भयंकर है। स्वाध्याय ध्यान और धर्मरूपी ईंधनको तो यह बडी ही बुरी तरहसे जला देती है। इसलिये इस कामरूप अग्निको बडी दूरसे ही सदाकेलिये छोड देना चाहिये।

भावार्थ—जिसके हृदयमें कामवासना होती है वह कभी स्वाध्याय और ध्यान नहीं कर सकता और न वह धर्म धारण कर सकता है। इसलिये धर्मात्मा पुरुषोंको स्वाध्याय और ध्यानमें अपना मन लगानेके लिये विषयवासनाका त्याग सदाकेलिये कर देना चाहिये।

आगे ब्रह्माणुव्रतियोंको क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

स्मरं दोषास्पदं बुद्ध्वा स्वस्त्रीमन्नवदाश्रयेत् ।
देहदाहोपशान्त्यर्थं दुर्ध्यानस्यापि हानये ॥ ९८ ॥

अर्थ–इस कामवासनाको अनेक दोषोंका स्थान समझकर शरीरका दाह शांत करनेकेलिये और अशुभ ध्यानको दूर करनेके लिये अन्नके समान केवल विवाहिता स्त्रीका सेवन करना चाहिये।

भावार्थ—कामवासनासे शरीर जलता रहता है और हृदयमें अनेक अशुभ विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इन दोनोंको शांत करनेकेलिये अर्थात् शरीरकी जलनको शांत करनेकेलिये और अशुभ ध्यान दूर करनेकेलिये माता पिता गुरु अग्नि आदिकी साक्षीपूर्वक विवाहिता स्वस्त्रीका सेवन करना चाहिये और वह भी अन्नके समान परिमित सेवन करना चाहिये। जिस प्रकार अधिक अन्नके ग्रहण करनेसे अजीर्णता आदि अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं और अंतमें उसे मृत्युके मुख पडना पडता है उसी प्रकार स्वस्त्रीमें भी अधिक लोलुपता रखनेसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अंतमें वह मृत्युके मुखमें पडता है और परभवमें नरक निगोदके अनंत दुःख भोगता है। इसलिये कामवासनाकी अधिक लोलुपता कभी नहीं करनी चाहिये। इस लोलुपताका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे परस्त्री क्या दुःख देती है सो बतलाते हैं।

परस्त्री हृदये यस्य तप्तभल्लीव संस्थिता।
सोन्तर्दंदह्यते पीतैस्तप्तैस्ताम्रद्रवैरिव ॥ ९९ ॥

अर्थ - जिस प्रकार गलाया हुआ पतला तांबा पीनेसे हृदय भीतर ही भीतर जल जाता है अथवा हृदयमें घुसेडा हुआ बहुत गर्म बाण हृदयको भीतर ही जला देता है वा खाया हुआ गर्म भिलावा भीतर ही भीतर हृदयको जला देता है। उसी प्रकार गर्म किये हुए बाणके समान अथवा तपाये हुए तांबेके समान परस्त्री जिसके हृदयमें विद्यमान है उसका हृदय भीतर ही भीतर जला करता है।

भावार्थ—परस्त्रीमें आसक्त रहनेवाला पुरुष सदा हृदयके भीतर जला ही करता है। उसे क्षण भरकेलिये भी सुख नहीं मिलता। इसलिये अपने हृदयको परस्त्रीकी ओर कभी नहीं जाने देना चाहिये। उसे सब ओरसे खींचकर अपने आत्मामें ही लगाना चाहिये।

आगे विषयवासनासे बुद्धि भी नष्ट हो जाती है यह दिखलाते हैं।

मन्दायते मतिर्याति सद्यः परमवैदुषी ।
मदनेन मदेनैव मोहितस्य पदे पदे ॥ १०० ॥

अर्थ—जो पुरुष अभिमानके समान कामवासनासे मोहित हो जाता है उसकी बहुत तीव्र बुद्धि भी पदपदपर मंद हो जाती है अथवा वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—जो पुरुष अभिमान करता है—अभिमानकी अकड से दूसरोंको कुछ नहीं समझता उसकी तीव्र बुद्धि भी बेकार वा नष्ट हो जाती है। फिर वह अपना कार्य सोच विचार कर नहीं कर सकता। इसी-प्रकार जिसका हृदय कामवासनासे मोहित हो जाता है उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। वह मनुष्य भी अपने काम सोच विचार कर नहीं करता। इसलिये श्रावकोंको यह कामवासना हृदयसे सर्वथा निकाल देनी चाहिये।

आगे परस्त्री सेवनका फल दिखलाते हैं।

बलात्परैर्निषेव्यन्ते मातृस्वसृसुतादयः ।
तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररते फलम् ॥ १०१ ॥

अर्थ जो अन्य पुरुष अपनी माता बहिन पुत्री आदिको बला-त्कार सेवन कर लेते हैं वह अपनेलिये पहिले जन्ममें परस्त्रियोंके सेवन करने का फल ही समझना चाहिये।

भावार्थ—जो पुरुष परस्त्री सेवन करते हैं, परजन्ममें उनकी माता बहिन पुत्री आदिको भी दूसरे लोग बलात्कार सेवन करते हैं। अथवा जिसने पहले जन्ममें परस्त्री सेवन किया था उसके बदले इस जन्ममें उ-सकी मा बहिन पुत्री आदिको अन्य लोग बलात्कार सेवन करते हैं। यह पहिले जन्मके परस्त्री सेवनका ही फल है। इसलिये इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें सुख चाहने वालोंको अपनी प्रतिष्ठा और लज्जा रखनेवा-लोंको परस्त्री सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

आगे कामवासनाकी कोई औषधि नहीं है ऐसा दिखलाते हैं।

वन्हिर्विधाप्यते नीरैरातपत्रैरवेः प्रभा।
मनोभूवन्हितप्तानामौषधं नास्ति सर्वथा ॥ १०२ ॥

अर्थ— इस संसारमें अग्नि पानीसे बुझ जाती है। और सूर्यकी धूप छत्र वा छतरीसे शांत हो जाती है परंतु कामरूपी अग्निसे संतप्त हुए मनुष्योंकेलिये इस संसारमें कोई औषधि नहीं है।

भावार्थ— इस संसारमें सब रोगोंकी औषधि है, सब दुःखोंके उपाय हैं। सबको जला देनेवाली अग्नि भी पानीसे बुझ जाती है, भूमंडल पर व्याप्त होनेवाला सूर्यका तेज भी छतरीसे रुक जाता है। परंतु जिसका हृदय कामरूप अग्निसे संतप्त हो रहा है, जो कामवासनासे जल रहा है उसकेलिये संसारभरमें कोई औषधि नहीं है। यह रोग किसीसे नहीं मिट सकता। इसलिये हृदयमें इस रोगको उत्पन्न ही नहीं होने देना चाहिये। उत्तम सुखकी प्राप्तिका यही एक उपाय है।

आगे परस्त्रीमें आसक्त होनेवाला मनुष्य अंधा, बहरा हो जाता है यह दिखलाते हैं।

न पश्यति सनेत्रोऽपि सश्रोत्रोऽपि न सश्रुतिः।
परस्त्रीरूपमैरेयमोहमोहितमानसः ॥ १०३ ॥

अर्थ— जिसका हृदय परस्त्रीके सुंदर रूपरूपी मद्यके मोहसे मोहित हो रहा है वह नेत्र सहित होनेपर भी नहीं देखता और कान रहते हुए भी नहीं सुनता।

भावार्थ—जिस प्रकार मद्यके नशेसे बेसुध हुआ मनुष्य न तो अन्य मद्य पीनेवालोंकी दुर्दशा देखता है और न हितकी बात सुनता है। उसी प्रकार परस्त्रीके रूपमें आसक्त हुआ मनुष्य भी न तो परस्त्रियोंमें आसक्त होनेवाले अन्य मनुष्योंकी दुर्दशा देखता है और न उससे प्राप्त होनेवाले परलोकके दुःखोंकी बात सुनता है इस प्रकार आंख कान रहते हुए भी वह एक प्रकारसे अंधा और बहिरा हो जाता है। इसलिये

परस्त्रीमें आसक्त कभी नहीं होना चाहिये। परस्त्री सेवनका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये।

आगे भावोंके अनुसार ही फल होता है ऐसा दिखलाते हैं।

भावेनैव तदर्थानां सांप्रतातीतभाविनाम्।
परस्त्रियामभावेपि परस्त्रीरतिरिष्यते ॥ १०४ ॥

अर्थ—यदि वर्तमानमें परस्त्री विद्यमान न हो तो भी वर्तमान कालमें जिन परस्त्रियोंमें मन लग रहा है पहिले जिन परस्त्रियोंमें मन लगा था अथवा आगामी कालमें जिन परस्त्रियोंमें आसक्ति होनेकी संभावना है ऐसी परस्त्रियोंके हाव भाव विलासोंका चिंतवन करना भी परस्त्रीसेवन ही गिना जाता है।

भावार्थ—यदि भावोंमें—परिणामोंमें परस्त्री सेवनकी लालसा हो परस्त्रियोंके हाव भाव विलासादिकोंका ही चिंतवन करता रहता हो तो उसमें भी परस्त्री सेवनके समान ही दोष लगता है। क्योंकि ऐसे पुरुषका हृदय—परिणाम सदा अशुभ और पापमय ही बना रहता है। इसलिये परस्त्रीकी लालसा वा उनके हाव भाव कटाक्षादिकोंका चिंतवन भी कभी नहीं करना चाहिये।

आगे परस्त्रीलोलुपी क्या करता है सो दिखलाते हैं।

मलिनां व्याधितां वृद्धां विरूपां निंद्यदर्शनाम्।
परस्त्रीं रमते पापी हित्वा स्वां रतिसन्निभाम् ॥ १०५ ॥

अर्थ परस्त्रीमें आसक्त रहनेवाला पापी मनुष्य रतिके समान अपनी अत्यंत सुंदरी स्त्रीको तो छोड देता है और जो मलिन है, अनेक रोगोंसे पीडित है, बूढी है, कुरूपा है और जो देखनेमें भी घिनावनी और बुरी लगती है ऐसी परस्त्रीका सेवन करता है।

भावार्थ—परस्त्री सेवन करनेवाला अंधा हो जाता है। जिस प्रकार आत्मकल्याणकी ओर नहीं देखता उसी प्रकार उसे सुंदरता वा सुंदरताका

ज्ञान भी नहीं रहता वह सब भूल जाता है। इसलिये परस्त्रीकी आसक्तता ही छोड देनी चाहिये।

आगे परस्त्रीकी बात भी बुरी है ऐसा दिखलाते हैं।

वृद्धो बहुश्रुतो मान्यः सर्वविद्याविभूषितः।
परस्त्रीवार्तयापीह धत्ते दोषपरंपराम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो वृद्ध है, बहुत ही अनुभवी है, जिसे सब मानते हैं और जो सब प्रकारकी विद्याओंसे सुशोभित हैं ऐसा बडा पुरुष भी केवल परस्त्रीकी बात चीत करने मात्रसे इस संसारमें अनेक दोषोंको धारण कर लेता है।

भावार्थ—परस्त्रीके विषयमें बात चीत करना भी बुरा है केवल बात चीत करने मात्रसे ही अनेक दोष लग जाते हैं फिर भला उसके सेवन करनेसे तो दोषोंका ठिकाना ही क्या है। इसलिये परस्त्रीके विषयमें कभी बात चीत भी नहीं करनी चाहिये और सेवन करनेका तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे ब्रह्मचर्यकी महिमा दिखलाते हैं।

विश्वत्रये महामान्या विश्वत्रयमहेश्वराः।
विश्वत्रयर्द्धिसम्पन्नाः स्युस्ते ये ब्रह्मभूषिताः ॥ १०७ ॥

अर्थ-जो लोग ब्रह्मचर्यसे सुशोभित होते हैं ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं वे तीनों लोकोंमें महामान्य समझे जाते हैं—वे तीनों लोकोंके सर्वश्रेष्ठ ईश्वर होते हैं और उन्हें तीनों लोकोंकी समस्त ऋद्धियां प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यकी अपार महिमा है। संसारके समस्त सुख, पूज्यता और विभूतियां आदि सब ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त होती हैं। ब्रह्मचारीकी इंद्र भी सेवा करता है; औरोंकी तो बात ही क्या है। इसलिये ब्रह्मचर्यका पालन अवश्य करना चाहिये।

आगे ब्रह्मचर्यकी महिमा और भी दिखलाते हैं।

धैर्योदार्यमहैश्वर्यसौंदर्यबहुवीर्यताः ॥
भवन्ति ब्रह्ममाहात्म्यात् व्रतपूतात्मनां सताम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—जिनका आत्मा ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे पवित्र है ऐसे सज्जन लोगोंको इस ब्रह्मचर्यके माहात्म्यसे धीरता, उदारता, महाविभूतियां सुंदरता और महाशक्तियां प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यके प्रतापसे अच्छे अच्छे सब गुण प्राप्त हो जाते हैं और उत्तमसे उत्तम विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये श्रावकोंको मन वचन कायसे ब्रम्हचर्य पालन करना चाहिये।

आगे परिग्रह परिमाणव्रतको कहते हैं।

भूमिर्वास्तु धनं धान्यं वस्त्रादि शयनासनम् ॥
द्विपदाः पशुरत्नादि बाह्योयं दशधोपधिः ॥ १०९ ॥

अर्थ—खेत १ मकान २ धन ३ धान्य ४ वस्त्र आदि घरका सामान ५ पलंग बिछोना आदि सोनेका सामान ६ कुरसी दरी आदि बैठनेका सामान ७ दास दासी ८ गाय भैंस आदि पशु ९ और रत्न १० ये दश प्रकारके बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। इनका परिमाण करना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है।

भावार्थ—जन्मभरकेलिये धनधान्यादिका परिमाण कर लेना परिग्रह-परिमाण अणुव्रत है। तृष्णारूपी अग्निको बुझानेकेलिये यह शीतल जलके समान है। संतोषी गृहस्थोंको यह अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे इन परिग्रहोंका मूल कारण बतलाते हैं।

मिथ्या लोभः पदार्थेषु फलोपधिरयं मतः।
यस्यैते पल्लवा भान्ति बहुरूपा मनोरथाः ॥ ११० ॥

अर्थ—संसारके समस्त पदार्थोंमें मिथ्या लोभ करना मूल परिग्रह है-सब परिग्रहोंका कारण है। प्रत्येक प्राणीके हृदयमें जो अनेक प्रकारके मनोरथ उठते हैं वे सब इसी मूलके पत्ते हैं।

भावार्थ—लोभ सब परिग्रहों की जड है। लोभसे तृष्णा, और तृष्णासे सब परिग्रह होते हैं। इसलिये परिग्रह परिमाण व्रत धारण करनेकेलिये सबसे पहिले लोभका त्याग करना चाहिये। लोभ सब पापोंकी जड है—सब पाप लोभसे ही होते हैं और लोभका त्याग कर देनेसे सब पाप शांत हो जाते हैं। अतएव लोभका त्याग करना अत्यावश्यक है।

आगे अभिलाषाका त्याग कराते हैं।

परद्रव्याभिलाषेषु यावन्मात्रं प्रवर्तते।
तावन्मात्रं पुमान् धत्ते पापास्रवमहामलम् ॥ १११ ॥

अर्थ— यह जीव जितनी देरतक परद्रव्योंकी अभिलाषा करता रहता है उतनी ही देरतक वह जीव पापोंके आस्रवसे आनेवाले कर्मरूप महा मैलको धारण करता रहता है।

भावार्थ—लोभसे अभिलाषा उत्पन्न होती है। अभिलाषासे पाप कर्मोंका आस्रव होता है। और उन पाप कर्मोंके उदयसे इस जीवको संसारमें अनंत दुःख भोगने पडते हैं। इसलिये अभिलाषा वा इच्छाका त्याग करदेना सबसे उत्तम है।

आगे परिमाण करनेका उपदेश देते हैं।

मितं मितं ततः सर्वं वस्तु हेमादि संश्रयेत्।
नियमेन विना विश्वमात्मसात्तनुते मनः ॥ ११२ ॥

अर्थ—ऊपर कह चुके हैं कि पदार्थोंकी इच्छा करनेसे पाप कर्मोंका आस्रव होता है। इसलिये सोना चांदी धन धान्य आदि सब पदार्थोंको परिमाण कर ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि विना नियमके यह मन समस्त संसारको अपना बनानेका प्रयत्न करता है।

भावार्थ—धनकी इच्छा और लोभकी मात्रा बडी ही प्रबल है। ज्यों ज्यों धनकी प्राप्ति होती जाती है त्यों त्यों वह इच्छा और बढती जाती है। तथा बढते बढते वह समस्त संसारके धनको अपना करना चाहती है। उस इच्छाकी बाढको रोकनेकेलिये परिग्रहोंका नियम कर लेना

ही प्रबल किला है । मजबूत किलेके भीतर कोई शत्रु नहीं आसकता । उसी प्रकार नियम करलेने पर—परिग्रहोंका परिमाण कर लेनेपर संसार भरके धनको अपना कर लेनेवाली इच्छा उत्पन्न नहीं होती । नियम कर लेनेसे इच्छा और लोभ सब रुक जाता है तथा ममता वा मोह भी परिमित हो जाता है । इसलिये प्रत्येक श्रावकको परिग्रहोंका परिमाण अवश्य कर लेना चाहिये ।

आगे परिग्रहोंकी इच्छा करना व्यर्थ है ऐसा दिखलाते हैं ।

देहोयं सहसंभूतिः सोप्येप नहि शाश्वतः ।
बाह्यास्तु द्रव्यदारादिपदार्थाः सर्वथा वृथाः ॥ ११३ ॥

अर्थ—यह शरीर इस पर्यायके साथ उत्पन्न होता है परंतु फिर भी यह सदा विद्यमान नहीं रहता; अवश्य ही नष्ट होता है । जब साथ उत्पन्न होनेवाला शरीर ही नहीं ठहरता तो फिर धन धान्य स्त्री पुत्र आदि बाह्य पदार्थ तो सर्वथा व्यर्थ हैं ।

भावार्थ—धन धान्य आदि पदार्थ तो सर्वथा अलग हैं । जब साथ साथ उत्पंन्न होनेवाला शरीर ही नहीं ठहरता है तो फिर सर्वथा अलग रहने वाले धन धान्यादिक पदार्थ कैसे ठहर सकते हैं । इसलिये इनकी इच्छा करना, इनके उपार्जनकेलिये अनेक प्रकारके पाप करना तथा अनेक प्रयत्न कर इनकी रक्षा करना आदि सब व्यर्थ है । यदि ये पदार्थ कुछ दिन तक ठहरें तब तो इनकेलिये प्रयत्न करना सार्थक भी हो । परंतु ये तो ठहरते ही नहीं । इसलिये इनकेलिये कभी प्रयत्न नहीं करना चाहिये ।

आगे संतोषका फल दिखलाते हैं ।

प्राप्तेर्थे न प्रमाद्यन्ति न दूयन्तेन्यथा स्थिते ।
तेपां सर्वाः श्रियो नित्यं दास्यभावं वितन्वते ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो पुरुष धन धान्य आदि पदार्थोंके प्राप्त होनेपर प्रमाद नहीं करते । और धन धान्य आदिके चले जानेपर अथवा प्राप्त न होनेपर

खेद नहीं करते। उनके घरमें सब प्रकारकी लक्ष्मी सदा दासी बनकर रहा करती है।

भावार्थ–धन पाकर प्रमाद नहीं करना चाहिये। बहुतसे लोग धन पाकर धर्मको भूल जाते हैं; यह उनकी भूल है। धन धर्मसे ही प्राप्त होता है। पहिले जन्ममें किये हुए धर्मसे यह धन इस जन्ममें प्राप्त हुआ है। और यदि अब धर्मका पालन करेंगे तो आगेके जन्ममें भी धन प्राप्त होगा। इसलिये धन पाकर और अधिक धर्म साधन करना चाहिये। क्योंकि एक तो उन्हें धर्मका प्रत्यक्ष फल मिल रहा हैं। दूसरे धनी आदमियोंको ही धर्म साधन करनेका अधिक सुभीता मिलता है। इसलिये धनी आदमियोंको धर्म साधन करनेमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। तथा यदि अशुभ कर्मके उदयसे वह धन नष्ट हो जाय, राजा छीन ले, चोर ले जायं, आगमें जल जाय या पानीमें बह जाय–किसी तरह नष्ट हो जाय तो खेद नहीं मानना चाहिये। क्योंकि कर्मोंका उदय किसीसे रोका नहीं जा सकता। वह अवश्य अपना फल देता है। इस प्रकार जो पुरुष हर्ष विषाद नहीं करता, सदा समता वा संतोष धारण करता है उसके अशुभ कर्म सब नष्ट हो जाते हैं; शुभ कर्मोंका विशेष बंध होता है और फिर उन शुभ कर्मोंके उदयसे लक्ष्मी सदा हाथ जोडे खडी रहती है–किसी न किसी रूपसे सदा उसकी सेवा किया करती है। इसलिये श्रावकोंको संतोष व्रत अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे ममत्वका फल पाप है ऐसा दिखलाते हैं।

महामोहात्प्रवर्द्धन्ते स्वैरं स्वैरं मनोरथाः।
महापापास्रवादन्यत्तेषां नास्ति फलं परम् ॥ ११५ ॥

अर्थ—संसारके समस्त पदार्थोंमें मोह वा लोभ उत्पन्न होनेसे अनेक प्रकारके मनोरथ अपने आप बढते रहते हैं और उन मनोरथोंका सबसे उत्तम फल महा पापरूप कर्मोंके आस्रवके सिवाय और कुछ नहीं होता।

भावार्थ—यह जीव जो संसारके समस्त पदार्थोंमें मोह करता है उससे अनेक प्रकारकी इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। इच्छाएं सब मोहकी ही पर्याय हैं। जहां जहां मोह होता है वहां वहां इच्छाएं अवश्य होती हैं। और जहां जहां इच्छाएं होती हैं वहां वहां घोर पाप कर्मोंका आस्रव अवश्य होता है। ऐसी कोई इच्छा नहीं है जिसके उत्पन्न होनेपर पाप कर्मोंका आस्रव न होता हो। इस प्रकार मोह वा इच्छाओंका फल पाप कर्मोंका आस्रव ही है जो कि अनंत संसार और अनंत दुःखोंका कारण है। इसलिये मोह वा इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे इच्छाके दोष और भी बतलाते हैं।

धनधान्ययुतस्यापि धर्मध्यानं निरंतरम् ॥
पापास्रवनिमित्तानि यद्येते न मनोरथाः ॥ ११६ ॥

अर्थ–जो पुरुष खूब धनी है, जिसके धन धान्य आदि विभूतियां अत्यंत विद्यमान हैं यदि उसके पाप कर्मोंके आस्रवको उत्पन्न करनेवाले मनोरथ न हो तो वह भी सदा धर्मध्यान कर सकता है।

भावार्थ धनके होनेसे धर्म ध्यानमें कोई रुकावट नहीं होती। धनी मनुष्यके जीविका चलानेवाले बहुतसे मनुष्य रहते हैं। इसलिये उसे धर्म सेवन करनेकेलिये और अधिक समय मिलता है तथा सब सुभीते मिलते हैं। इस प्रकार वह धर्म सेवन बहुत ही अच्छी तरह कर सकता है। परंतु और अधिक धन कमानेकेलिये उसकी जो लालसा बढती रहती है और अनेक प्रकारके घोर पाप कर्मोंका बंध करती रहती है वही लालसा उस धर्मसेवनमें बाधा डालती है। उस लालसाके वशीभूत होकर वह धनी रात दिन अपध्यान करने और धन कमानेमें लगा रहता है। इसीलिये वह धर्मसेवन नहीं कर सकता। यदि वह लालसाका त्याग कर दे तो सब समय उसे धर्म सेवनकेलिये ही मिल जाय। तथा लालसाका त्याग कर देनेसे कुछ हानि भी नहीं होती क्योंकि धनकी

वृद्धि लालसासे नहीं होती किंतु शुभ कर्मोंके उदयसे होती है। इसलिये श्रावकोंको लालसाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे मनोरथोंकेलिये और भी कहते हैं।

मिथ्या रथा रथा नूनं निर्द्धनानां मनोरथाः।
संसारमरुविस्तारबहुभ्रान्तिनिबंधनम्॥ ११७॥

अर्थ—निर्धन लोगोंकी इच्छाएं भी झूठीं इच्छाएं हैं और उनके मनोरथ वा लालसाएं संसाररूपी महा मरुस्थलमें परिभ्रमण करनेके कारण हैं।

भावार्थ—कदाचित कोई यह कहे कि धनी लोगोंकी इच्छाएं वा लालसाएं तो व्यर्थ नहीं हैं क्योंकि उन्हें तो धनकी आवश्यकता है। परंतु यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि पहले कह चुके हैं कि धनकी प्राप्ति शुभ कर्मोंके उदयसे होती है। लालसाओंसे नहीं। इसलिये उसकी इच्छाएं भी सब झूठी हैं; केवल पाप कर्मोंका बंध करनेवाली हैं और अनंत संसारमें परिभ्रमण करानेवाली हैं। इसलिये निर्द्धनियोंको भी कभी लालसाएं नहीं करनी चाहिये। लालसाओंका त्याग तो सर्वथा कर देना चाहिये।

आगे अंतरंग परिग्रहोंके त्याग करनेकेलिये कहते हैं।

मिथ्यात्ववेदहास्यादिरोषप्रभृतयस्तथा।
सर्वदोषमया मध्याद्धीयन्ते शुद्धबुद्धिभिः॥ ११८॥

अर्थ—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चौदह अंतरंग परिग्रह हैं। ये अंतरंग परिग्रह समस्त दोषोंसे भरपूर हैं इसलिये शुद्ध बुद्धि धारण करनेवाले श्रावकोंको अपने हृदयसे इनको अवश्य निकाल डालना चाहिये।

भावार्थ—ये अंतरंग परिग्रह बहिरंग परिग्रहके कारण हैं। ममता वा मोहके ही ये सब विकार हैं। इसलिये इनके त्याग करनेका प्रयत्न

---

१ 'सर्वदोषमयो' ऐसा भी पाठ है।

अवश्य करना चाहिये। इनके त्याग कर देनेसे बहिरंग परिग्रहोंका त्याग वा परिमाण सहज रीतीसे हो जाता है।

आगे इन अंतरंग परिग्रहोंकेलिये और भी कहते हैं।

मानमायामदासूयाविद्वेषभयसम्पदाम्।
द्रव्याशैव निदानं स्याद्विपदामिव दुर्मतिः॥ ११९॥

अर्थ—जिस प्रकार दुर्बुद्धि समस्त आपत्तियोंकी कारण है उसी प्रकार धन प्राप्त करनेकी इच्छा, मान माया मद निंदा द्वेष भय धन संपत्ति आदि सबकी कारण है।

भावार्थ—जिस प्रकार बुद्धिके विपरीत हो जाने पर अनेक प्रकारकी विपत्तियां अपने आप आजाती हैं उसी प्रकार द्रव्यकी इच्छा होने पर मान छल कपट मद निंदा द्वेष भय आदि सब दोष अपने आप आ जाते हैं। अतएव द्रव्य प्राप्त होनेकी इच्छा करना ही बुरा है। बुद्धिमानोंको कभी नहीं करना चाहिये।

आगे लोभी पुरुष कभी तृप्त नहीं होते यह दिखलाते हैं।

न तृप्ता नैव तृप्यन्ति लोभान्धा हि महाधनैः।
स्फारैरपि न पूर्यन्ते नदीपूरैः पयोधयः॥ १२०॥

अर्थ— जिस प्रकार समुद्र नदीके बडे भारी पूरोंसे भी कभी तृप्त नहीं होता उसी प्रकार लोभसे अंधे हुए मनुष्य बडे भारी धनके प्राप्त हो जानेपर भी न कभी तृप्त हुए हैं और न कभी तृप्त हो सकते हैं।

भावार्थ—मनुष्यकी तृप्ति धनसे नहीं होती है। धनसे लालसा बढती है। जैसा जैसा धन बढता जाता है वैसी ही लालसा भी बढती जाती है। तृप्ति आत्माका स्वभाव है। वह बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं हो सकती। वह आत्मासे ही उत्पन्न होती है और संतोष गुणसे प्रगट होती है। इसलिये तृप्त और परम सुखी होनेकेलिये प्रत्येक श्रावकको संतोष धारण करना चाहिये। संतोषके विना कभी किसीको सुख नहीं मिल सकता।

आगे धनकी निंदा कहते हैं ।

प्रयासैर्धनमादत्ते प्रयासैर्वर्द्धते धनम् ।
प्रयासैः पाल्यते नूनं यत्प्रयासमयं धनम् ॥ १२१ ॥

भावार्थ—इस संसारमें परिश्रमसे ही धन कमाया जाता है, परिश्रमसे ही बढाया जाता है और परिश्रमसे ही सुरक्षित रक्खा जाता है। इसका भी कारण यह है कि धन परिश्रमरूप ही है।

भावार्थ—विना परिश्रमके न तो धन कमाया जाता है और न उसकी रक्षा की जा सकती है। इससे सिद्ध होता है कि धन परिश्रम रूप ही है। परिश्रमसे भिन्न नहीं है। तथा परिश्रम दुःखरूप है क्योंकि परिश्रम करनेमें दुःख होता है। सुखी वा अमीर परिश्रमसे डरते हैं। इस तरह यह भी सिद्ध हो जाता है कि धन भी दुःखरूप है। क्योंकि दुःखसे ही कमाया जाता है, दुःखसे ही बढता है और दुःखसे ही रक्षित रक्खा जाता है। तथा दुःखसे अलग रहना वा दुःख और दुखोंके साधनोंका त्याग कर देना सुख है। इसलिये सुख चाहनेवालोंको धनसे ममत्व हटाये भिना यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता।

आगे परिग्रहपरिमाणके दोष दिखलाते हैं ।

भूमिवास्तुधनादीनां प्रमितिं यो निवर्तते ।
नियमात्तां महालोभात्तद् व्रतं तस्य हीयते ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तीव्र लोभके कारण नियम किये हुए खेत, मकान धन आदि बाह्य परिग्रहके परिमाणका उलंघन करता है या उसे छोड देता है उसके वह परिग्रहपरिमाणव्रत नष्ट हो जाता है या मलिन हो जाता है।

भावार्थ—परिग्रहका परिमाण कर फिर उस नियमको भंग नहीं करना चाहिये। जो व्रत धारण किया है उसे निर्दोष पालन करना चाहिये। इस प्रकार पांचों अणुव्रतोंका वर्णन समाप्त हुआ।

आगे दिग्व्रतका स्वरूप कहते हैं ।

नियमात्स्थापिता सीमा दशानामपि या दिशाम् ।
नैव तामतिवर्तन्ते ये दिशां विरतौ स्थिताः ॥ १२३ ॥

अर्थ—दशों दिशाओंकी जो नियमपूर्वक जन्मभरकेलिये सीमा नियत करली है उसका फिर कभी उलंघन नहीं करना दिग्विरति नामका गुणव्रत कहलाता है ।

भावार्थ—जन्म भरकेलिये प्रसिद्ध देश नदी पर्वत वन आदिकी सीमा नियत कर दशों दिशाओंकी मर्यादा नियत कर लेनी चाहिये । और फिर आजन्म कभी उसका उलंघन नहीं करना चाहिये । इसको दिग्व्रत अथवा दिग्विरति व्रत कहते हैं । यह अणुव्रतोंके गुणोंको बढाता है । इसके पालन करनेसे अहिंसा आदि अणुव्रत और अधिक रीतिसे पलते हैं । इसलिये इस व्रतको गुणव्रत कहते हैं ।

आगे इस दिग्व्रतसे होनेवाला लाभ बतलाते हैं ।

पूर्वादीनां दिशां व्यूहे यानमानविधायिनाम् ।
महाव्रतं भवेत्तेषां तत्परं विरतात्मनाम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—जो श्रावक दिग्व्रत धारण कर लेते हैं । पूर्व पश्चिम आदि सब दिशाओंके जाने आने अथवा निवास करनेका नियम कर लेते हैं । फिर वे उस नियत की हुई सीमासे आगे नहीं जा सकते न आगे जाकर निवास कर सकते हैं । इसलिये उनके सीमासे बाहर महाव्रतके समान यह व्रत हो जाता है ।

भावार्थ—सीमाके बाहर वह श्रावक न तो जाता है न वहां रहता है और न वहांसे किसी प्रकारका व्यापार करता है । सीमाके बाहर उससे किसी प्रकारका पाप नहीं हो सकता । स्थूल, सूक्ष्म दोनों प्रकारके पाप छूट जाते हैं । इसलिये उसके अणुव्रत सीमाके बाहर महाव्रतके समान हो जाते हैं । प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे वे महाव्रत तो होते नहीं परंतु महाव्रतके समान अवश्य हो जाते हैं ।

आगे देशव्रतको कहते हैं।

तथा देशेषु सर्वेषु पापारम्भनिवृत्तये।
मर्यादा प्रविधातव्या यानस्थानव्यवस्थिते ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दिग्व्रत जन्म भरकेलिये किया जाता है उसी प्रकार देशव्रत कुछ नियत कालकेलिये किया जाता है. और वह दिग्व्रतके भीतर छोटी सीमा नियत कर किया जाता है। यही बात इस श्लोकमें दिखलाते हैं। सब देशोंमें जाने और निवास करनेकी व्यवस्थामें वा अन्य व्यवहार चलानेमें पापरूप आरंभका त्याग करनेकेलिये सीमा नियत कर लेनी चाहिये।

भावार्थ—पर्वके दिन वा चातुर्मासमें अथवा और किसी दिन किसी ग्वत गली घर गांव आदिकी एक दिन दो दिन महीने दो महीने आदिकेलिये सीमा नियत कर उतने समय तक उस सीमाके बाहर न जाना देशव्रत है। यह व्रत भी सीमाके बाहर पापोंका त्याग करनेकेलिये है और श्रावकोंको अवश्य धारण करने योग्य है।

आगे इसीका विशेष वर्णन करते हैं।

सर्वमांसाशिवासेषु धर्मशीलापहारिषु।
साधुतीर्थादिहीनेषु नैव देशेषु संवसेत् ॥ १२६ ॥

अर्थ—जिस देशमें सर्व लोग मांस खानेवाले ही निवास करते हों, जिस देशमें धर्म और शीलको अपहरण करनेवाले निवास करते हों और जिस देशमें कोई साधु त्यागी न हो, जिस देशमें कोई तीर्थक्षेत्र न हो ऐसे देशमें कभी निवास नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—श्रावकोंको ऐसे देशमें निवास करना चाहिये जहां प्रतिदिन धर्म सेवन होता रहे और धर्मके बाधक—विशेष धर्म साधनके बाधक साधन न हो। जिन देशोंमें अधिकांश लोग मांस खानेवाले हैं, मांस खानेमें जिनकी प्रवृत्ति स्वाभाविकसी हो रही है, जो धर्म और शीलको कुछ नहीं समझते, जिन्हें धर्म शीलको नष्ट करनेमें कुछ विचार

नहीं होता वहां कभी धर्म साधन नहीं हो सकता। जहां आहारदान आदि देनेकेलिये कोई साधु वा त्यागी नहीं है, जहां विशेष पुण्य उपार्जन करनेकेलिये कोई तीर्थ नहीं वहां भी श्रावकोंको उस पुण्य संपादनसे वंचित रहना पडता है। इसलिये ऐसे देशमें कभी नहीं रहना चाहिये[1]।

आगे देशव्रतका फल दिखलाते हैं।

सर्वत्र दिशि देशेपि मर्यादैतावती मम।
यद्बाह्ये नैव यास्यामि स्यादित्थं तन्महाव्रतम् ॥ १२७ ॥

अर्थ – सब दिशाओंमें और सब देशोंमें आने जानेकेलिये मेरे इतनी मर्यादा है। मैं इससे बाहर नहीं जाऊंगा। इस प्रकार नियम होनेसे मर्यादाके बाहर उसके महाव्रत हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार दिग्व्रतके पालन करनेमें महाव्रत हो जाता है उसी प्रकार देशव्रतके पालन करनेमें उससे अधिक महाव्रतका फल मिल जाता है। इसलिये प्रत्येक श्रावकको यह व्रत भी अवश्य पालन करना चाहिये।

आगे और भी इस व्रतका फल दिखलाते हैं।

हिंसा निवारिता तेन तेन लोभोपि संहृतः।
येनेदं पालितं शश्वद् द्वितीयव्रतमुत्तमम् ॥ १२८ ॥

---

१ वर्तमानमें अमेरिका योरोप आदि देशोंमें ऐसी ही प्रवृत्ति हो रही है। वहांपर प्रायः सभी लोग मांस खाते हैं मद्य पीते हैं, धर्म शीलको कुछ समझते नहीं और न वहांपर कोई तीर्थ वा साधु त्यागी हैं, इसलिये वर्तमान समयमें योरोप आदि देशोंकी यात्रा करना धर्मविरुद्ध है। भगवान अरहंत देवकी पूजा करना वा दर्शन करना और शक्तिके अनुसार दान देना ये दो कार्य गृहस्थोंकेलिये अत्यावश्यक कर्तव्य हैं परंतु योरोप आदि देशोंमें ये हो नहीं सकते इसीलिये वहां जाना व रहना धर्मविरुद्ध है।

अर्थ—जो श्रावक इस दूसरे उत्तम देशव्रतको सदा पालन करता है उसके हिंसाका त्याग भी हो जाता है और उसके लोभका संवरण भी हो जाता है।

भावार्थ—इस संसारमें लोभका घटना अत्यंत कठिन है। जो मनुष्य देशव्रत धारण कर जितने दिनोंकेलिये सीमा नियत कर लेता है उतने दिनोंकेलिये वह सीमासे बाहर होनेवाले लाभका भी त्याग कर देता है तथा सीमाके बाहर उतने दिनतक किसी प्रकार की हिंसा उससे हो ही नहीं सकती। इस प्रकार देशव्रत धारण करनेसे सीमांके बाहर हिंसा का भी त्याग हो जाता है इसलिये इस व्रतका धारण करना सबसे उत्तम है।

आगे अनर्थदंडविरति व्रतका स्वरूप कहते हैं।

पादायुधमयूरौ तु बभ्रुव्यालादयः स्वयम्।
सत्वसंतानसंहाराः पोष्यन्ते नैव देहिनः॥ १२९॥

अर्थ—अनर्थदंड व्रत धारण करनेवालों को अन्य जीवोंका घात करनेवाले बाज, मयूर, न्योल, सर्प आदि हिंसक प्राणी कभी नहीं पालने चाहिये।

भावार्थ—जिन कामोंके करनेमें कुछ सच्चा प्रयोजन तो सिद्ध न हो और हिंसा बहुत अधिक हो ऐसे काम करनेको अनर्थदंड कहते हैं। ऐसे कामोंके त्याग करनेको अनर्थदंडविरति अथवा अनर्थदंड व्रत कहते हैं। अनर्थदंड व्रत धारण करनेवालोंको कुत्ता बिल्ली बाज तीतर न्योला सर्प आदि हिंसक जानवर कभी नहीं पालने चाहिये। इनके पालन करनेसे हिंसा बहुत अधिक होती है परंतु लाभ कुछ नहीं होता। व्यर्थ ही घोर पाप कर्मोंका बंध होता है। इसलिये श्रावकको हिंसक पशुओंके पालन करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे ऐसे व्रतियोंको और भी कर्तव्य बतलाते हैं।

वधबंधभयं रोधो देहिनां येन सम्भवेत।
शस्त्रपाशादि नद्रस्तु म्लानोऽपि न दीयते॥ १३०॥

अर्थ—सांकल रस्सा आदि जिन पदार्थोंसे पशु बांधे जा सकें, तलवार, पैना आदि जिनसे पशु मारे जा सकें, जिनसे पशुओंको भय उत्पन्न हो—जिनसे पशु रोके जा सकें ऐसे शस्त्र जाल आदि पदार्थ अपना लाभ होते हुए भी किसीको नहीं देने चाहिये।

भावार्थ—ऐसे पदार्थोंका देना हिंसादान है। ऐसे पदार्थोंके देने में उनसे होने वाली हिंसाका पाप देने वाले को भी लगता है इसलिये ऐसे पदार्थ कभी नहीं देने चाहिये।

आगे श्रावकोंको क्या क्या कर्म नहीं करना चाहिये सो बतलाते हैं।

नित्यं वन्हिप्रधानो यो लोहपातादिना विधिः।
तल्लाभं नैवमीहन्ते श्राद्धा व्रतविधौ स्थिताः॥ १३१॥

अर्थ—लोहेको गलाना, लोहेकी चीजें बनाना आदि कार्योंमें प्रधान रीतिसे सदा अग्नि जलानी पडती है। इसलिये व्रतोंको पालन करनेवाले श्रावकोंको ऐसे कार्य कर उससे लाभ उठानेकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये।

भावार्थ—लोहेके कारखानोंमें हिंसा बहुत होती है इसलिये ऐसे कामोंसे जीविका कभी नहीं करनी चाहिये।

मूलपुष्पफलादीनां लाभवृत्तिं विदूरयेत्।
नित्यं वनस्पतेर्बाधां धर्मार्थी नैव पोषयेत्॥ १३२॥

अर्थ—वृक्षोंकी जड फूल फल आदिसे जीविका नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसे कामोंसे वनस्पतियोंको सदा बाधा पहुंचती रहती है! धर्मात्मा पुरुषोंको ऐसे हिंसक कार्य कभी नहीं करने चाहिये।

भावार्थ—लकडीकी टाल खोलना फूल वा फल वेचनेका व्यापार करना अथवा हरी वनस्पति वेचना, शाकभाजी वेचना आदि कार्योंमें वनस्पतियोंकी बहुत हिंसा होती है साथमें त्रस जीवोंकी हिंसा भी होती है। इसलिये श्रावकोंको ऐसे कार्योंसे भी जीविका कभी नहीं करना चाहिये।

रथादीनां विधानानि तेषां वा सूत्रधारिता ।
प्लोषो धानादिधान्यानां दलयन्त्रं तु नाश्रयेत् ॥ १३३ ॥

अर्थ—रथ गाडी बग्घी टांगा आदिका बनाना वा उनकी कारीगरी का काम करना, चावल आदि धान्योंके भूसेको जलाना तथा दाल दलने आटा पीसनेकेलिये चक्की चलाना आदि कार्य भी हिंसाके जनक हैं इसलिये श्रावकोंको ऐसे कार्योंसे भी जीविका नहीं करनी चाहिये ।

भावार्थ—बढई वा सुतारके कामोंमें भी बहुत हिंसा होती है । तथा आगे अच्छी फसल हो और खात अच्छा लग जाय इसलिये चावलोंके धानमें अथवा मूंजके डंठलोंमें अग्नि लगादेते हैं । यह काम भी अत्यंत हिंसाका है । इसमें अनेक जीवोंकी हिंसा हो जाती है । तथा आटा पीसनेकी मिलें खोलनेमें बहुत हिंसा होती है । बहुतसे घुने बींधे अनाज दल पिस जाते हैं । इसलिये श्रावकोंको ये सब काम नहीं करना चाहिये ।

महिषाश्ववृषादीनां लाभार्थं भारवाहिता ।
तेषां वा संप्रदानानि पशुवृत्तिं विदूरयेत् ॥ १३४ ॥

अर्थ—अपने लाभकेलिये भैंस घोडा बैल आदि पशुओंपर भार लादना वा बोझा लादनेकेलिये उन्हें किसीको देना पशुजीविका कहलाती है । श्रावकोंको यह पशुजीविका भी छोड देनी चाहिये ।

भावार्थ—पशुजीविकामें भी बहुतसी हिंसा होती है कभी कभी तो अधिक बोझा लाद देना पडता है, कभी कभी उन पशुओंको भूखे प्यासे भी रखना पडता है और कभी कभी खानेपीनेको देरसे देना पडता है, कभी उन्हें कडी सर्दीमें बाहर खडा कर देना पडता है, कभी जेठ की कडी धूपमें खडा कर देना पडता है और कभी बरसातमें भीगते हुए बाहर खडा कर देना पडता है । इस प्रकार पशुओंको अनेक प्रकारके कष्ट देने पडते हैं । इसलिये श्रावकोंको ऐसी जीविका अवश्य छोड देनी चाहिये ।

वापीसरोवरादीनां विधानं नैव धर्मदम् ॥
दववदाहादिवृत्तीनां भिल्लानां नैव संश्रयः ॥ १३५ ॥

अर्थ–कूआ बावडी सरोवर आदि बनानेमें भी कोई धर्मकी वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार वनमें अग्नि लगाना, पेड काटना आदि की जीविका करनेवाले भीलोंको आश्रय भी नहीं देना चाहिये।

भावार्थ—कूआ बावडी आदि बनानेमें हिंसा बहुत होती है और वे बने रहने तक बराबर हिंसा होती रहती है। इसलिये इनके बनवानेमें कोई धर्म नहीं होता। श्रावकोंको कभी नहीं बनवाना चाहिये। इसी प्रकार हिंसा करनेवाले भील कसाई आदि लोगोंको रुपया उधार देकर सहारा देना उनकी हिंसा करनेवाली जीविकामें सहायता देना है। इसलिये ऐसे हिंसक कामोंमें कभी सहायता नहीं देनी चाहिये। हां, यदि वे रोगी वा दुःखी हों तो उनका दुःख दूर अवश्य कर देना चाहिये।

दन्तरोमादिवस्तूनां देहावयवसम्पदाम् ।
नीलीमनःशिलादीनां तथा लाभो न सम्मतः ॥ १३६ ॥

अर्थ—दांत, बाल आदि जो शरीरके अवयव हैं उनके व्यापारसे तथा नील मनशिल आदि के व्यापारसे कभी जीविका नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—हाथीके दांत, चमरी गायकी पूंछ आदि जो जो शरीर के अवयव हैं उनका व्यापार कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि उनके लिये उन पशुओंकी हिंसा करनी पडती है। इसी प्रकार नीलके व्यापारमें बहुतसी हिंसा होती है। और मनशिल भी हिंसाका साधन है। इसलिये श्रावकोंको इनका व्यापार कभी नहीं करना चाहिये। इनमें लाभ अधिक हो तो भी इनका व्यापार नहीं करना चाहिये।

नवनीतवसामद्यमध्वादीनां त्रसात्मनाम् ।
विषास्त्रहलयन्त्रायःप्रभृतीनां न संश्रयः ॥ १३७ ॥

अर्थ—जिनमें अनेक त्रस जीव वा स्थावर जीव उत्पन्न होते व

मरते रहते हैं ऐसे मक्खन वा लोनी, चर्बी, मद्य, शहत आदि पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार विष, शस्त्र, हल, यंत्र, लोहा आदि हिंसा करनेवाले पदार्थोंका संग्रह भी कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ मक्खन चर्बी मद्य शहत आदि पदार्थ तो जीवमय हैं उनमें अनंत स्थावर जीव और असंख्यात त्रस जीव सदा उत्पन्न होते व मरते हैं। इसलिये इन पदार्थोंका संग्रह नहीं करना चाहिये तथा लोहा विष शस्त्र आदि पदार्थ हिंसाके साधन हैं। यदि इनका संग्रह किया जायगा तो कभी न कभी इनसे हिंसा भी अवश्य होगी। इसलिये इनका संग्रह करना भी पापका ही कारण है। श्रावकोंको कभी इनका संग्रह नहीं करना चाहिये।

लाभार्थं नैव धार्यन्ते यन्त्रपीलादयस्तथा ।
त्रसनिष्पत्तिहेतूनां तिलादीनां न संश्रयः ॥ १२८ ॥

अर्थ—अपने लाभके लिये कोल्हू चरखी आदि यंत्र नहीं रखने चाहिये तथा जिनमें त्रस जीव उत्पन्न होते रहें ऐसे तिल आदि अनाजों-का वा अन्य पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—कोल्हू पेलनेमें असंख्यात जीवों की हिंसा होती है। तथा रुई निकालने की चरखियोंमें भी कपासके असंख्यात जीव मर जाते हैं। इसलिये इनके द्वारा न तो व्यापार करना चाहिये और न इनको भा-डेपर चलाकर इनसे द्रव्य उपार्जन करना चाहिये। इसी प्रकार तिल आदि अनाजों में बहुत शीघ्र जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे अनाज वा ऐसे अ-न्य पदार्थ भी कभी इकट्ठे कर नहीं रखने चाहिये। अभिप्राय यह है कि जो कार्य हिंसाके साधन हैं अथवा जिनसे हिंसा होना संभव हैं ऐसे कार्य श्रावकों को कभी नहीं करने चाहिये।

आगे अनर्थदंडों के और भी भेद दिखलाते हैं।

पापोपदेशपैशुन्यमिथ्यापथप्रवर्तनाः ।
रौद्रार्त्तध्यानसम्बन्धाः प्रबन्धास्तेपि तादृशाः ॥ १२९ ॥

वधबन्धनसंरोधहेतवोन्येपि सन्ति ये ।
तेपि यत्नात्प्रहातव्या भववल्लीपयोधराः ॥ १४० ॥

अर्थ—जिनमें पशुपक्षियों को दुःख पहुंचे अथवा और कोई हिंसा झूठ चोरी कुशील आदि पाप उत्पन्न हो ऐसे कार्योंका उपदेश देना, किसीकी चुगली खाना, किसीको मिथ्या मार्गमें लगाना, रौद्रध्यान वा आर्तध्यान उत्पन्न करनेवाले वा और भी ऐसे कार्य करना जो जीवोंके वध बंधन के कारण हों अथवा उनके रोकने वा घिरावके कारण हों—ये सब कार्य अथवा और भी ऐसे ही ऐसे कार्य जो कि संसाररूपी वेलको बढानेके लिये बादलों के समान हैं; गृहस्थोंको बडे प्रयत्नसे छोड देने चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार बादलोंसे वेल बडती है उसी प्रकार इन हिंसा और पापके कार्योंसे जन्म मरण रूप संसार बढता है। इसलिये श्रावकों को इनका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये। इनके सिवाय काम क्रोध मद मोह आदि विकार उत्पन्न करनेवाले ग्रंथ पढने का भी त्याग करदेना चाहिये। अभिप्राय यह है कि हिंसाके सब साधनोंका त्याग करदेना चाहिये।

आगे इस अनर्थदंड व्रतकी महिमा दिखलाते हैं।

सर्वैश्वर्यं लभेतासौ देशाशाविरतिव्रतात् ।
तृतीयव्रतमाहात्म्यात्स्वामित्वं सर्वदेहिषु ॥ १४१ ॥

अर्थ—इस अनर्थदंड व्रतके माहात्म्यसे एक देश व्रतको धारण करनेवाले अणुव्रतियोंको इस संसारका समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होता है और वह समस्त प्राणियोंका स्वामी होता है।

भावार्थ—इस व्रतके प्रभावसे प्राणिको इंद्र चक्रवर्ती आदिकी उत्तम उत्तम विभूतियां प्राप्त होती हैं और सब मनुष्य व देव उसकी सेवा करते हैं। इसलिये श्रावकोंको यह व्रत अवश्य धारण करना चाहिये। इस व्रतके धारण करनेसे अनंत जीवोंकी हिंसा बच जाती है जिससे

उसे महापुण्यका बंध होता है। और फिर उसके उदयसे इसे अपार सुखकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार गुणव्रतोंका स्वरूप समाप्त हो चुका।

अब आगे शिक्षाव्रतोंको कहते हैं। उनमेंसे सबसे पहले सामायिकको कहते हैं।

संध्यात्रये विधातव्यो नियमाद्व्रतो विधिः।
देववन्दनया सार्द्धमप्रमादपरैः सदा ॥ १४२ ॥

अर्थ—श्रावकोंको प्रमादरहित होकर प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनो समय देववंदनाके साथ साथ नियमपूर्वक सामायिक करना चाहिये।

भावार्थ—सामायिक तीनों समय करना चाहिये। उसके करनेमें किसी प्रकारका प्रमाद नहीं करना चाहिये। और उसके साथ देववंदना अवश्य करनी चाहिये।

आगे प्रातःकालकी विधि बतलाते हैं।

रात्रेस्तुरीययामार्द्धे निद्रां हित्वा प्रबुद्धवान्।
शुद्धात्मानं शिवं शान्तं देवं स्तुतिपदैः स्तुवन् ॥ १४३ ॥
मित्रत्वं सर्वसत्त्वेषु प्रमोदं सर्वसाधुषु।
दयां देहनाशेषु माध्यस्थ्यं प्रत्यनीरिषु ॥ १४४ ॥
भीरुत्वं भवभावेषु मद्रत्वं सर्वसत्पथे।
हेयत्वं पुत्रमित्रादौ ध्यायन् शय्यां विहृत्य च ॥ १४५ ॥

अर्थ—रात्रिके चौथे पहरका जब आधा भाग व्यतीत हो जाय आधा पहर वा डेढ घंटा रात बाकी रहे उस समय नींद छोडकर जग जाना चाहिये। जगते ही सबसे पहले सुन्दर स्तोत्रोंसे शुद्ध आत्म स्वरूप सबका कल्याण करनेवाले और परम शांत मुद्राको धारण करनेवाले भगवान अर्हंत देवकी स्तुति करनी चाहिये। तदनंतर चिंतवन करना

चाहिये कि मेरे सब प्राणियोंके साथ मित्रताका वर्ताव रहे। मुझसे किसीको दुःख न पहुंचे–सब जीव सुखी रहें। तथा सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाले साधुओंको देखकर प्रसन्न होना चाहिये। सम्यग्ज्ञानी वा अन्य गुणियोंको देखकर भी प्रसन्न होना चाहिये। इसी तरह दुःखी, रोगी जीवोंके प्रति दयाभाव धारण करना चाहिये। जो मनुष्य मिथ्या मार्गमें चल रहे हैं, रत्नत्रयके विरोधी हैं उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। उन्हें देखकर क्रोध नहीं करना चाहिये। संसारके दुःखोंसे सदा डरते रहनेकी भावना रखनी चाहिये। समस्त धार्मिक कार्योंमें कल्याण होनेकी भावना रखनी चाहिये। और पुत्रमित्र आदि कुटुंबी वा इष्ट जनोंसे ममत्व छूट जानेकी भावना रखनी चाहिये। इस प्रकार चिंतवन करते हुए –भावना करते हुए प्रत्येक श्रावकको अपनी शय्या छोडनी चाहिये।

भावार्थ—डेढ घंटे रात रहे ब्राह्म मुहुर्त कहलाता है। उसी समयपर सबको जग जाना चाहिये। और पंच परमेष्ठीको नमस्कार कर अच्छे अच्छे पदोंसे उनकी स्तुति करनी चाहिये। तदनंतर ऊपर लिखी भावनाओंका चिंतवन करना चाहिये और फिर बिस्तरेसे उठकर खडा होना चाहिये।

तदनंतर—

शल्यत्रयविदूरात्मा निर्वेदोदयमन्थरः।
निद्राप्रमादवैधुर्यनिंदनत्वस्य शुद्धधीः ॥ १४६ ॥

अर्थ—जिसने माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों को दूर कर दिया है और जिसके मंद मंद वैराग्यका उदय होरहा है ऐसे सामायिक करने वालेको निद्रा, प्रमाद, घबडाहट, निंदा आदि विकारों को दूर कर बुद्धिको शुद्ध कर लेना चाहिये।

भावार्थ—सामायिक करते समय तीनों शल्योंका त्याग करदेना चाहिये। कोई भी क्रिया छल कपट पूर्वक नहीं करना चाहिये। मिथ्याभाव नहीं रखना चाहिये अथवा मिथ्या क्रियाएं नहीं करनी चाहिये। अ-

पने सामायिक वा धर्म सेवनके बदले किसी प्रकार के भोग उपयोग आदि फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। उस समय हृदयमें वैराग्य धारण करना चाहिये जिससे मनकी चंचलता, आकुलता वा व्यग्रता नष्ट हो जाय और मन निश्चल हो जाय। मनके निश्चल हुए विना सामायिक कभी नहीं हो सकता। इसलिये सामायिक करते समय मनको अवश्य निर्विकार और निश्चल कर लेना चाहिये। इसी प्रकार अपनी बुद्धिको भी शुद्ध कर लेना चाहिये और निद्रा प्रमाद आदि मनके विकार सब हटा देना चाहिये। मन और आत्माको निर्मल कर फिर सामायिक करना चाहिये

देवः सोर्हन् दया धर्मो यतयो येत्र निस्पृहाः ।
रत्नत्रयं सदा ध्येयं तद्वन्दे शासनं त्रिधा ॥ १४७ ॥

अर्थ—जिस अरहंत देवके शासनमें वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी ऐसे भगवान अरहंत देव ही परमदेव हैं, समस्त प्राणियोंपर दया धारण करना ही परमधर्म है; सर्वथा निस्पृह और इच्छा वा वांछा न रखनेवाले मुनि ही परम गुरु हैं तथा जिसमें रत्नत्रयका ही ध्यान किया जाता है ऐसे शासनको मैं मन वचन काय तीनोंसे नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—संसारमें वही शासन उत्तम है; वही संसार समुद्रसे पार कर सकता है जो सर्वज्ञ वीतरागको ही देव मानता है दयाको ही धर्म मानता है, निर्ग्रंथ मुनिको ही गुरु मानता है और रत्नत्रयको ही ध्येय मानता है। सामायिकके समय ऐसे शासनको मन वचन काय तीनोंसे नमस्कार करना चाहिये।

धन्योहं येन संप्राप्ता तद्दुर्लभपरंपरा ।
संसारसिंधुनिस्तारो भविष्यति ममाधुना ॥ १४८ ॥

अर्थ—तदनंतर चिंतवन करना चाहिये कि जिस अरहंत देवके शासनका प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है; जो शासन अनादि कालसे आजतक प्राप्त नहीं हुआ वही शासन आज मुझे प्राप्त हुआ है। इसलिये मैं इस

संसारमें धन्य हूं । अब मैं इस संसाररूपी महासागरसे अवश्य ही पार हो जाऊंगा ।

ध्यात्वेति मनसा भव्यः शुद्धात्मभरनिर्भरः ।
त्रिशुद्धया भावसंशुद्धः प्रारमेत प्रभुस्तुतिम् ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो केवल शुद्ध आत्माके भावका ही सहारा ले रहा है जिसके भाव मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक अत्यंत शुद्ध हैं ऐसे भव्य जीवको प्रथम अपने मनमें ऊपर लिखे अनुसार चिंतवन करना चाहिये और फिर भगवान अरहंत देवकी स्तुति प्रारंभ करनी चाहिये ।

भावार्थ—सामायिक करनेवालेको सबसे पहले मन वचन कायको शुद्ध रखना चाहिये फिर भावोंको शुद्ध करना चाहिये। और इस प्रकार आत्माको परम शुद्ध कर लेना चाहिये । आत्माको शुद्ध कर फिर समता वंदना आदि सामायिकमें करने योग्य कार्य करना चाहिये ।

बद्धपद्मासनस्थायी निरवद्ये समासने ।
देहमात्रोपधिस्थाता निर्व्यापारपदे स्थितः ॥ १५० ॥

अर्थ—सामायिक करनेकेलिये उसे सबसे पहले निर्दोष आसनपर पद्मासन बांधकर बैठना चाहिये । शरीर के सिवाय सब परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये और मन वचन काय की प्रवृत्तियां सब हटा देनी चाहिये ।

भावार्थ—सामायिकके लिये सबसे उत्तम आसन पद्मासन है। यदि पद्मासनसे न बैठ सके तो फिर अर्द्ध पद्मासन या सुखासनसे ही बैठना चाहिये। और वह बैठक किसी शुद्ध चटाईपर या शुद्ध भूमिपर ही होनी चाहिये। अशुद्ध बिछोनेपर बैठकर सामायिक करनेमें परिणामोंकी उज्ज्वलता नहीं रह सकती। उस समय घरके धंदे व्यापारोंकी चिंता तो सब छोड देनी ही चाहिये परंतु घर कुटुंबसे ममत्व भी छोड देना चाहिये। जितनी देरतक वह सामायिक करे उतनी देरतक उसे केवल शरीरमात्र परिग्रहका परिमाण रखना चाहिये । यदि शरीरपर कुछ वस्त्र हों तो उन

का परिमाण भी रख लेना चाहिये। इनके सिवाय और सब परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये। इसके सिवाय मन वचन काय की सब क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये। प्रायः काय की क्रिया का तो त्याग हो ही जाता है। वचन की क्रिया भी उतनी ही करनी चाहिये जो सामायिकमें काम आवे सामायिकमें काम आनेवाली शरीरकी क्रिया भी करनी पडती है। जैसे हाथ जोडना नमस्कार करना आवर्त करना आदि। वचनकी क्रिया जैसे वंदनाका पाठ पढना, प्रतिक्रमणका पाठ पढना आदि। मनकी क्रियामें पंच परमेष्ठीके स्वरूपका चिंतवन अथवा शुद्ध आत्माके स्वरूपका चिंतवन करना चाहिये। इन क्रियाओंके सिवाय आरंभ व्यापार आदिसे संबंध रखनेवाली मन वचन कायकी सब क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये।

मित्रे शत्रौ समा वृत्तिर्लाभालाभे शुभाशुभे ।
शिवे भवे भवेद्यस्य स धन्यः समयव्रती ॥ १५१ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके मित्र और शत्रुमें समान भाव रहते हैं, हानि लाभमें समान भाव रहते हैं, शुभ अशुभमें समान भाव रहते हैं और संसार तथा मोक्षमें समान भाव रहते हैं वह सामायिक करनेवाला पुरुष संसारमें धन्य गिना जाता है।

भावार्थ—सामायिक करनेवाले को समताभाव अवश्य धारण करना चाहिये। उस समय उसे न तो मित्रसे प्रेम भाव रखना चाहिये न शत्रुसे द्वेष भाव रखना चाहिये, अपना लाभ होनेपर, कोई अच्छा कार्य बन जानेपर या शुभ कर्मका उदय होनेपर प्रसन्न भी नहीं होना चाहिये। और हानि होनेपर वा लाभ न होनेपर अथवा अशुभ कर्म का उदय होनेपर खेदखिन्न भी नहीं होना चाहिये। दोनों अवस्थाओंमें उसे समान भाव रखने चाहिये। इसी प्रकार संसारके दुःखों और मोक्षके अनंत सुखोंमें भी समान भाव रखना चाहिये। इस प्रकार समता भावोंको धारण करता हुआ सामायिक करनेवाला संसारमें धन्य और पूज्य गिना जाता है।

इसी प्रकार—

व्याधिर्बान्धवो वापि निधनानि धनानि वा ।
पीयूषं वा विषं वापि समवृत्त्या विभावयेत् ॥ १५२ ॥

अर्थ—रोग और भाई बंधुओं को, धन और दरिद्रीपनेको तथा अमृत और विषको समान भावसे ही देखना चाहिये ।

भावार्थ—यदि रोग हो जाय तो दुःखी नहीं होना चाहिये और भाई बंधु आदि कुटुंबी जन मिल जायं तो प्रसन्न नहीं होना चाहिये । इसी प्रकार धन मिल जाय वा अमृत मिल जाय तो प्रसन्न नहीं होना चाहिये और नष्ट हो जाय दरिद्रता आ जाय अथवा अमृतके बदले विष मिल जाय तो दुःखी नहीं होना चाहिये । सुख दुःख, जीने मरने आदि सबमें समान भाव रखना चाहिये । सामायिकमें समता भाव रखना ही सर्वोत्कृष्ट विधि है । अथवा थोडेसेमें यों समझ लेना चाहिये कि विना समता भाव धारण किये सामायिक होही नहीं सकता । समताभाव धारण करना ही सामायिक है । इसलिये सामायिक करनेवालोंको समता भाव अवश्य धारण करना चाहिये ।

आगे भगवान् अरहंत देवकी वंदना कहते हैं ।

नमो दुर्वारसंसारपारावारविवर्तिनाम् ।
नाथाय भूरिभव्यानां हस्तालम्बनहेतवे ॥ १५३ ॥

अर्थ–जो भगवान् अरहंत देव अत्यंत भयंकर संसाररूपी महासागर में पडे हुए अनेक भव्य जीवोंको पार करनेकेलिये हाथका सहारा देने वाले हैं और सबके स्वामी हैं उनको मैं नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ–यह संसाररूपी महासागर अत्यंत कठिन और भयंकर है । इससे पार होना अत्यंत ही कठिन है । इसमें अनंत भव्य जीव पडे हुए दुःख भोग रहे हैं । उनके संसार संबंधी समस्त दुःख दूर करनेकेलिये भगवान् अरहंत देव ही कारण हैं । वे भगवान् ही मोक्षमार्गका उपदेश देकर सबको सुखका मार्ग दिखलाते हैं और इस प्रकार उन संसारी

संसारमें धन्य हूं। अब मैं इस संसाररूपी महासागरसे अवश्य ही पार हो जाऊंगा।

ध्यात्वेति मनसा भव्यः शुद्धात्मभरनिर्भरः ।
त्रिशुद्ध्या भावसंशुद्धः प्रारमेत प्रभुस्तुतिम् ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो केवल शुद्ध आत्माके भावका ही सहारा ले रहा है जिसके भाव मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक अत्यंत शुद्ध हैं ऐसे भव्य जीवको प्रथम अपने मनमें ऊपर लिखे अनुसार चिंतवन करना चाहिये और फिर भगवान अरहंत देवकी स्तुति प्रारंभ करनी चाहिये।

भावार्थ—सामायिक करनेवालेको सबसे पहले मन वचन कायको शुद्ध रखना चाहिये फिर भावोंको शुद्ध करना चाहिये। और इस प्रकार आत्माको परम शुद्ध कर लेना चाहिये। आत्माको शुद्ध कर फिर समता वंदना आदि सामायिकमें करने योग्य कार्य करना चाहिये।

बद्धपद्मासनस्थायी निरवद्ये समासने ।
देहमात्रोपधिस्थाता निर्व्यापारपदे स्थितः ॥ १५० ॥

अर्थ—सामायिक करनेकेलिये उसे सबसे पहले निर्दोष आसनपर पद्मासन बांधकर बैठना चाहिये। शरीर के सिवाय सब परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये और मन वचन काय की प्रवृत्तियां सब हटा देनी चाहिये।

भावार्थ—सामायिकके लिये सबसे उत्तम आसन पद्मासन है। यदि पद्मासनसे न बैठ सके तो फिर अर्द्ध पद्मासन या सुखासनसे ही बैठना चाहिये। और वह बैठक किसी शुद्ध चटाईपर या शुद्ध भूमिपर ही होनी चाहिये। अशुद्ध बिछोनेपर बैठकर सामायिक करनेमें परिणामोंकी उज्वलता नहीं रह सकती। उस समय घरके धंदे व्यापारोंकी चिंता तो सब छोड देनी ही चाहिये परंतु घर कुटुंबसे ममत्व भी छोड देना चाहिये। जितनी देरतक वह सामायिक करे उतनी देरतक उसे केवल शरीरमात्र परिग्रहका परिमाण रखना चाहिये। यदि शरीरपर कुछ वस्त्र हों तो उन

नरक निगोद आदि दुर्गतियोंके अनंत दुःख भोग रहा है। उसके इन अनंत दुःखोंको दूर करनेके लिये भगवान् अरहंत देव धर्मरूपी अमृतकी धारा बरसाते हैं और उनके अनंत दुःख दूर कर उन्हें अनंत सुख प्राप्त कर देते हैं। इसलिये मैं ऐसे अरहंत देवको बार बार नमस्कार करता हूं। इस संसारमें मिथ्यात्व सब जीवोंको जला रहा है—संताप देरहा है। उसको शांत करनेवाली भी आपके धर्मामृत की वर्षा है। आपके धर्मामृतको सुनकर ही लोगोंका मिथ्यात्व छूट जाता है। और फिर वे सुमार्गमें लगकर शीघ्र ही आत्मकल्याण कर लेते हैं। इसलिये ऐसे अरहंत देवके लिये मैं बार बार नमस्कार करता हूं।

ना स्त्रमित्थं स्तुवन् स्तोत्रैः पुरस्थितमिव स्मरेत्।
भावसंशुद्धितोवश्यं सर्वं फलति तादृशम्॥ १५६॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक मनोहर स्तोत्रोंसे भगवान् अरहंत देवकी स्तुति करनी चाहिये और वे भगवान् मानो अपने सामने ही विराजमान हैं ऐसा समझ कर उनका स्मरण करना चाहिये। क्योंकि अपने भाव शुद्ध होनेसे उनका वैसा ही फल अवश्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—नमस्कारके बाद भगवान्का स्मरण करना चाहिये और वह इस प्रकार करना चाहिये मानो वे भगवान मेरे सामने ही विराजमान हैं; अथवा मैं उनके सामने ही बैठा हूं। यह सब कर्तव्य अपने भावोंको शुद्ध करनेकेलिये है। मनुष्यके जैसे भाव होते हैं वैसे ही उनका फल प्राप्त होता है। शुद्ध भावोंका फल अवश्य ही उत्तम होता है इसलिये भाव सदा शुद्ध रखना चाहिये।

आगे समताका स्वरूप दिखलाते हैं।

लाभालाभे वने स्थाने मित्रे शत्रौ प्रियाप्रिये।
साम्यभावो भवेन्नित्यं समतां तां विदुर्बुधाः॥ १५७॥

अर्थ—हानि लाभ, संसार मोक्ष, मित्र शत्रु और प्रिय अप्रिय सबमें सदा एकसे भाव रखनेको विद्वान् लोग समता कहते हैं।

भावार्थ—हानि होनेमें खेदखिन्न नहीं होना, लाभ होनेमें प्रसन्न नहीं होना, संसारमें रहनेमें व्याकुल नहीं होना और मोक्षमें जानेके लिये व्याकुल नहीं होना, मित्रका संसर्ग होनेपर प्रसन्न नहीं होना और शत्रुका संसर्ग होनेपर दुःखी नहीं होना तथा इष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर प्रसन्न नहीं होना और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर दुःख नहीं मानना। दुःख और सुख दोनोंमें एकसे परिणाम रखना समता कहलाती है। सामायिकमें यह समता अवश्य धारण करनी चाहिये।

निंदाप्रशंसयोः साम्यं साम्यं वा निधने धने।
सर्वत्रापि महासाम्यं तदर्थं सर्वसंयमः ॥ १५८ ॥

अर्थ—इसीलिये अपनी निंदा होती हो अथवा अपनी प्रशंसा होती हो तो दोनोंमें समता भाव रखना चाहिये। निंदा होती देखकर दुःखी नहीं होना चाहिये और प्रशंसा होती देखकर प्रसन्न नहीं होना चाहिये। तथा धन मिल जानेपर प्रसन्न नहीं होना चाहिये और दरिद्री होनेपर दुःख नहीं मानना चाहिये। धनी दरिद्री दोनों अवस्थाओंमें एकसे परिणाम रखने चाहिये। इनके सिवाय और भी जितने विषय हैं सबमें समता भाव धारण करना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि संसारमें जितना संयम धारण किया जाता है तपश्चरण किया जाता है ध्यान किया जाता है वह सब समता भावोंके धारण करनेके लिये ही धारण किया जाता है। समता धारण करना उन सबका फल है। यदि समता भाव न हुए तो फिर जप तप ध्यान आदि सब व्यर्थ है। इसलिये सामायिकमें समता भाव अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे स्तुतिका स्वरूप बतलाते हैं।

सिद्धादीनां यथास्थित्या सामान्येनैव या स्तुतिः।
संस्तुतिः सा भवेन्नित्यं बह्वाश्रयविशेषिता ॥ १५९ ॥

अर्थ—अरहंत वा सिद्ध भगवान्‌की यथायोग्य रीतिसे साधारण स्तुति करना स्तुति कहलाती है। वह स्तुति आश्रयके भेदसे अनेक प्रकारकी है।

भावार्थ—अरहंत देव की स्तुति करना, अरहंतों में भी चौबीसो तीर्थंकर की स्तुति करना वा किसी एक तीर्थंकर की स्तुति करना, आचार्य उपाध्याय साधुओं की स्तुति करना, जिनवाणी की स्तुति करना, दश धर्मोंकी स्तुति करना, रत्नत्रय की स्तुति करना आदि अनेक पूज्य पुरुषों के आश्रय होनेसे स्तुति अनेक प्रकार की कही जाती है।

आगे स्तुतिका स्वरूप और भी उदाहरण देकर बतलाते हैं।

सिद्धान्नत्वार्हतः प्राप्तान् विशुद्धाराधनं फलम्।
वंदाम्याराधनाशास्त्रं स्वस्वरूपोपलब्धये ॥ १६० ॥

अर्थ—मैं सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर और अरहंत भगवान् को अपने हृदयमें विराजमान कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति के लिये विशुद्ध आराधनाओं के फल को कहने वाले आराधना शास्त्रको कहता हूं।

भावार्थ—इस श्लोकमें जो अरहंत और सिद्धों को नमस्कार करने रूप स्तुति की गई है वह स्तुति है।

आगे वंदना को कहते हैं।

वर्द्धमानः श्रियं देयाद्वर्द्धमानां शिवोत्तराम्।
येन प्रवर्तितं तीर्थं भवभ्रमविनाशनम् ॥ १६१ ॥

अर्थ— जिन भगवान् महावीर स्वामीने संसारके परिभ्रमणको नाश करनेवाले तीर्थकी प्रवृत्ति की है ऐसे वे भगवान् वर्द्धमान स्वामी प्रति समय बढनेवाली और मोक्षमें प्राप्त होनेवाली लक्ष्मीको प्रदान करें।

भावार्थ — इसमें भगवान् महावीर स्वामीकी वंदना है। वे भगवान् संसारके परिभ्रमणको दूर कर मोक्षसुखको प्राप्त करानेवाले हैं। उनके दिव्य उपदेशको सुनकर भव्य जीव शीघ्र ही मोक्ष मार्गमें लगकर उसे प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिये भगवान् महावीर स्वामीसे मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना की गई है।

आगे किये हुए दोषोंका प्रतिक्रमण करते हैं।

मिथ्यादिभिः प्रमादैर्वा स्थावरत्रसदेहिनाम् ।
योऽपराधस्त्रिधा भूतस्तस्य मिथ्यास्तु सर्वथा ॥ १६२ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय आदिके द्वारा जो त्रस वा स्थावर जीवोंका मन, वचन, कायसे अपराध हुआ हो वह सर्वथा मिथ्या हो।

भावार्थ— कषाय वा प्रमादसे किसी जीवको दुःख पहुंचा हो वा और कोई अपराध हुआ हो वह सब मिथ्या हो। उसके लिये मैं अपनी निंदा करता हूं।

आगे भविष्यमें कोई दोष न करनेके लिये कहते हैं।

विधास्ये न प्रमादाद्यैस्त्रसस्थावरदेहिनाम् ।
विराधनमहं सर्वं सर्वेषां सर्वतस्त्रिधा ॥ १६३ ॥

अर्थ—आगे मैं कषायसे वा प्रमादसे त्रस स्थावर आदि समस्त जीवों-की विराधना न मनसे करूंगा, न वचनसे करूंगा और न कायसे करूंगा।

भावार्थ— मैं अब आगे किसी जीवकी हिंसा नहीं करूंगा। मन, वचन, कायसे समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देता हूं।

आगे और भी भविष्यके लिये भावना कहते हैं।

रत्नत्रये तदाधारे मा भूवमपराधवान् ।
सर्वसावद्यताहीनः संयमी स्यां भवे भवे ॥ १६४ ॥

अर्थ—मेरी इच्छा है कि मुझसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान वा सम्यक् चारित्रमें किसी प्रकार का दोष न लगने पावें तथा सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाले मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका आदिका कोई अपराध न होने पावें। मैं भव भव में समस्त पापोंसे रहित संयमी होऊं ऐसी मेरी उत्कट इच्छा है।

भावार्थ— आगामी कालमें मुझसे किसीका अपराध न हो, रत्नत्रय में कोई दोष न लगे और मैं भवभवमें मुनिव्रत धारण करूं ऐसी मैं भावना करता हूं।

आगे और भी भावना बतलाते हैं।

नाहं देहो न देहोहं देहोन्यः सर्वथापरः ।
शुद्धसंवित्तिरूपोहमात्मानुभवशाश्वतः । १६५ ॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा शरीररूप नहीं है, न शरीर ही आत्मस्वरूप है। यह शरीर आत्मासे भिन्न है और वह आत्मासें सर्वथा भिन्न है। मैं (मेरा आत्मा) शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूं और नित्य निरंतर रहनेवाली स्वात्मानुभूति रूप हूं ।

भावार्थ— मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है और सदा रहनेवाली स्वात्मानुभूतिसे भरपूर है। यह शरीर जडरूप है—अचेतन है। आत्माका शरीरसे कोई संबंध नहीं। शरीर सर्वथा अलग है। ऐसा चिंतवन करते हुए शरीरसे ममत्व छोडकर जप और ध्यान करना चाहिये।

परद्रव्ये न वर्तेहं न वर्तिष्ये न वर्तितः ।
स्वात्मद्रव्ये प्रवर्तेहं प्रवर्तिष्ये प्रवर्तितः ॥ १६६ ॥

अर्थ—मैं परद्रव्यमें न रहता हूं न रहूंगा और न रहा हूं। मैं सदा अपने आत्मद्रव्यमें रहता हूं, आत्मद्रव्यमें ही रहूंगा और आत्मद्रव्यमें ही रहा हूं।

भावार्थ—यह शरीर परद्रव्य है। उसमें मैं न कभी रहा हूं न रह रहा हूं और न आगे कभी रहूंगा। कोई भी पदार्थ पर द्रव्यमें रह ही नहीं सकता। सब द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें ही स्थिर रहते हैं। अतएव मैं भी आजतक अपने आत्म द्रव्यमें ही रहा हूं, अब भी अपने आत्मद्रव्यमें भी रह रहा हूं और आगे भी अपने ही आत्मद्रव्यमें रहूंगा। आत्मद्रव्यको छोडकर अन्य पदार्थमें मैं कभी रहही नहीं सकता। ऐसा चिंतवन करते हुए ध्यान करना चाहिये।

आगे ध्यानको कहते हैं।

विश्वत्रयमहाराध्यं विश्वविद्याफलप्रदम् ।
विश्वत्रयप्रभावेशं मूलमन्त्रं विभावयेत् ॥ १६७ ॥

अर्थ—पंच नमस्कारमंत्र मूलमंत्र कहलाता है। यह मूलमंत्र तीनों लोकोंकी समस्त विद्याओंके फलको देनेवाला है, तीनों लोकोंके समस्त ऐश्वर्योंका स्वामी है और तीनों लोक इसकी उत्कृष्ट आराधना करते हैं। ऐसे इस पंच नमस्कार मंत्रका जप करना चाहिये तथा ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—सब मंत्रोंमें पंच नमस्कार मंत्र ही उत्तम मंत्र है। इसीका जप और ध्यान करना चाहिये।

परद्रव्यं परद्रव्यं स्वद्रव्यं द्रव्यमात्मनः ।
सम्बन्धोपि तयोर्नास्ति यथायं सह्यविन्ध्ययोः ॥ १६८ ॥

अर्थ—पर द्रव्य सदा परद्रव्य ही रहता है। और स्वद्रव्य सदा स्वद्रव्य ही रहता है। स्वद्रव्य और परद्रव्य दोनोंका कुछ भी संबंध नहीं है। जिस प्रकार सह्य पर्वत और विंध्य पर्वतका परस्पर कोई संबंध नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार सह्याद्रि और विंध्याद्रि दोनों पर्वत सर्वथा भिन्न भिन्न हैं उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार आत्मा और शरीरादिक पर द्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न हैं। इनका परस्पर कोई किसी प्रकारका संबंध नहीं है।

आगे मूलमंत्रकी और भी महिमा दिखलाते हैं।

सर्वं समीहितं तस्य फलतीह न संशयः ।
सर्वसिद्धिप्रदो येन मूलमन्त्रः प्रसाधितः ॥ १६९ ॥

अर्थ—जिस पुरुषने सब प्रकारकी सिद्धिओंको देनेवाला मूलमंत्र सिद्ध कर लिया है उसकी समस्त मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

भावार्थ—पंच नमस्कार-मंत्रको सिद्ध कर लेनेसे समस्त प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं और फिर उसकी सब इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं। इसलिये सबसे पहले पंच नमस्कार मंत्रको ही सिद्ध कर लेना चाहिये। इसका ही जप और ध्यान करना चाहिये।

श्रूयन्ते बहवः पूर्वं ये सिद्धा मूलमन्त्रतः ।
ततः सर्वप्रयत्नेन मूलमन्त्रं प्रसाधयेत् ॥ १७० ॥

अर्थ—कथाभागोंमें यह सुना जाता है कि इस पंच नमस्कार मंत्रके प्रभावसे अनेक जीव सिद्ध हो गये हैं-अनेक जीवोंने मोक्ष प्राप्त कर ली है। इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके इस पंच नमस्कार मंत्रका जप और ध्यान करना चाहिये तथा इसकी आराधना करनी चाहिये।

भावार्थ—इस पंच नमस्कार मंत्रके प्रभावसे अनेक जीव सुमार्गमें लग गये हैं। इसको सुनने मात्रसे अनेक जीवोंकी दुर्गतियां नष्ट हो गई हैं और सुगति प्राप्त होगई है। तथा सुगति प्राप्त होनेपर फिर वे जीव तप और ध्यान करने लग जाते हैं, रत्नत्रयको धारण कर लेते हैं। और इस प्रकार उन्हें मोक्षसुख प्राप्त हो जाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस पंच नमस्कार मंत्रका जप और ध्यान करना चाहिये।

आगे मूल मंत्रकी प्रशंसा करते हैं।

सर्वे मंत्रा न तद् दद्युर्महादेवैः समर्पिताः ।
मूलमन्त्रो ददात्यर्थं यद् ध्रुवं सर्वसम्मतम् ॥ १७१ ॥

अर्थ— मूल मंत्रके सिवाय अन्य सब मंत्र चाहे महादेवोंके द्वारा ही समर्पण किये गये हों तथापि उनसे कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। परंतु मूल मंत्रसे ऐसे ऐसे निश्चित पदार्थोंकी सिद्धि होती है कि जो सर्वमान्य हों।

भावार्थ—मूल मंत्र सब मंत्रोंमें उत्तम है। इसके प्रभावसे ऐसे ऐसे पदार्थोंकी प्राप्ति होती है जिनके प्राप्त होनेकी सब इच्छा करते हों। मोक्षतक इसके प्रभावसे प्राप्त हो जाती है। इसके सिवाय अन्य मंत्रोंसे कुछ लाभ नहीं हो सकता चाहे वे मंत्र महादेवोंहीने क्यों न दिये हों। इसलिये इस मूल मंत्रका ही जप और ध्यान करना योग्य है।

आगे ध्यानके चार भेद बतलाते हैं।

पदस्थं पद्मन्त्रस्थं देहस्थं हृदयादिषु ।
रूपस्थं प्रतिमारूपे रूपातीतं स्वभास्वरम् ॥ १७२ ॥

अर्थ—ध्यान चार प्रकारका है— पदस्थ, देहस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। किसी मंत्रके पदका ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। हृदय शिर नाभि आदि शरीरके अंगोंमें किसी पदार्थको स्थापन कर ध्यान करना देहस्थ ध्यान है। भगवान् अरहंत देव अथवा उनकी प्रतिमाका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। और अपने आप प्रकाशमान अमूर्त परमात्माका ध्यान करना रूपातीत ध्यान है।

आगे पदस्थ ध्यानका स्वरूप बतलाते हैं।

संततावर्तनेनैव समस्तं व्यस्तमेव वा ।
मूलमन्त्रं वदेद् ध्याता पदस्थं ध्यानमाह तत् ॥ १७३ ॥

अर्थ— मूल मंत्रको पूर्ण रूपसे अथवा उसके किसी एक वा दो पदको बहुत देरतक बार बार कहने अथवा जप करनेको पदस्थ ध्यान कहते हैं।

भावार्थ— किसी पदको आश्रय लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। पदस्थ ध्यानमें मूल मंत्रका जप किया जाता है अथवा उसके किसी पदका जप किया जाता है। पदस्थ ध्यानमें नाभि-मंडलके भीतर सोलह दलका कमल बनाकर उसमें स्वर, व्यंजन स्थापन कर ध्यान किया जाता है। अथवा मंत्रराज अनाहत मंत्रका ध्यान किया जाता है। अथवा और भी अनेक मंत्रोंका जप किया जाता है। इसके ध्यानसे समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं और समस्त ऋद्धि सिद्धि आदि मनोकामनाएं सिद्ध हो जाती हैं।

आगे देहस्थ ध्यानको कहते हैं।

पारंपर्योपदेशेन शिरोनाभिहृदादिषु ।
न्यस्तं यद् ध्यायते वस्तु देहस्थं तद्विदुर्बुधाः ॥ १७४ ॥

अर्थ— परंपरापूर्वक चले आये गुरुके उपदेशके अनुसार मस्तक, नाभि और हृदय आदिमें किसी पदार्थको स्थापन कर ध्यान करना देहस्थ ध्यान कहलाता है ।

भावार्थ— देहस्थ ध्यानका दूसरा नाम पिंडस्थ ध्यान है । इस पिंडस्थ ध्यानमें हृदय, नाभि अथवा मस्तकमें भगवान् अरहंत देवको विराजमान कर अथवा कर्म मल कलंक रहित अपने शुद्ध आत्माको विराजमान कर अथवा पंचपरमेष्ठीके वाचक मंत्रोंको विराजमान कर ध्यान किया जाता है। यह ध्यान गुरुके उपदेश के अनुसार किया जाता है । तथा वे गुरु भी ऐसे हों जो परंपरापूर्वक गुरुओंके उपदेशके अनुसार ध्यान की विधिको अच्छी तरह जानते हों । स्वेच्छाचारी और अपने कपोल कल्पित विधिको बतलाने वाले न हों।

आगे रूपस्थ ध्यानको कहते हैं।

प्रतिमादौ सिद्धरूपे वा यद् ध्यानं तन्मयस्थितम् ।
रूपस्थं तद्वदन्त्यार्या ध्यानं धर्मपदेश्वराः ॥ १७५ ॥

अर्थ–किसी प्रतिमामें तन्मय विराजमान भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना अथवा सिद्ध भगवानके आकारमें तन्मय सिद्ध भगवानको विराजमान कर उनका ध्यान करना चाहिये । धर्मपदके ईश्वर भगवान् देव इसी ध्यानको रूपस्थ ध्यान कहते हैं।

भावार्थ– अनंत चतुष्टय अष्ट प्रातिहार्य और चौतीस अतिशय सहित समवसरणमें विराजमान भगवान् ऋषभदेवका ध्यान करना वा भगवान् महावीर स्वामीका ध्यान करना अथवा अन्य किसी तीर्थंकरका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है ।

आगे रूपातीत ध्यानका स्वरूप कहते हैं।

यद् ध्यायन्त्यात्मनात्मानमात्मनो भवनिःस्पृहाः ।
रूपातीतं मतं ध्यानं सर्वसंसारछेदनम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—संसारसे निस्पृह हुए जो मुनि अपने ही आत्माकेलिये

अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माका जो ध्यान करते हैं उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं। यह रूपातीत ध्यान जन्ममरणरूप समस्त संसारको नाश कर देता है।

भावार्थ—चिदानंदमय अपने अमूर्त शुद्ध आत्माका ध्यान करना रूपातीत ध्यान है। इस ध्यानसे पंच-परावर्तनरूप संसार सर्वथा नष्ट हो जाता है और शीघ्र ही सिद्ध पदकी प्राप्ति हो जाती है।

रूपादिभ्यः पदार्थेभ्यो यद्यतीतं स्वभावतः।
रूपातीतं मतं तस्माद् ध्यानं संशुद्धबुद्धिभिः॥ १७७॥

अर्थ—यह रूपातीत ध्यान स्वभावसे ही रूपी पदार्थोंके आश्रय नहीं होता। अरूपी पदार्थोंके आश्रय ही होता है। इसीलिये अत्यंत शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले गणधरादि देव इसे रूपातीत ध्यान कहते हैं।

भावार्थ—रूपातीत ध्यानमें अमूर्त शुद्ध आत्माका ही चिंतवन किया जाता है। इसीलिये इस ध्यानको रूपातीत ध्यान कहते हैं।

आगे इस ध्यानका फल दिखलाते हैं।

बोधिप्राप्तौ यदात्मायमात्मन्यात्मानमात्मना।
स्वयं वृते तदावस्थां लभते परमात्मताम्॥ १७८॥

अर्थ—रत्नत्रयके प्राप्त होनेपर जब यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको अपने आप प्राप्त कर लेता है तब यह आत्मा स्वयं परमात्म अवस्थाको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—रत्नत्रय आत्माका शुद्ध स्वभाव है—आत्माका शुद्ध स्वाभाविक गुण है। उसके प्रगट होनेपर यह आत्मा कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ होता है। रत्नत्रयके प्रगट होनेपर शुद्ध आत्माका स्वरूप प्रगट होता है और फिर उस शुद्ध आत्माके ध्यानके द्वारा कर्म नष्ट होते हैं। जब यह सम्यग्ज्ञानी आत्मा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माका चिंतवन करता है तब उसके निश्चय ध्यान होता है

उसी निश्चय ध्यानमें शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। उसीसे कर्म सब नष्ट हो जाते हैं और फिर यह आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि रूपातीत ध्यान परमात्म पदकी प्राप्तिका कारण है।

आगे ध्याता, ध्यान, रत्नत्रय सब आत्मस्वरूप ही हैं ऐसा बतलाते हैं।

ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा स्वभावतः।
रत्नत्रयं भवेदात्मा सोपि रत्नत्रयात्मवान् ॥ १७९ ॥

अर्थ— ध्यान करनेवाला भी आत्मा ही है, ध्येय भी आत्मा ही है, ध्यान भी स्वभावसे ही आत्मा ही है, रत्नत्रय भी आत्मस्वरूप ही हैं और आत्मा भी रत्नत्रयस्वरूप ही है।

भावार्थ— इस रूपातीत ध्यानमें ध्यान करनेवाला तो आत्मा है ही। विना आत्माके अन्य किसी भी पदार्थमें ध्यान करनेकी शक्ति नहीं है। तथा शुद्ध आत्माका ही ध्यान किया जाता है। रूपातीत ध्यानमें रूपी पदार्थका तो ध्यान होता ही नहीं है, शुद्ध आत्माका ही ध्यान होता है। चिंतवन भी वहां मनसे नहीं होता। केवल आत्मा ही अपने आत्मामें लीन हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि ध्यान भी आत्मा ही है। ऐसे इस ध्यानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है परंतु वह रत्नत्रय भी आत्मस्वरूप ही है। अथवा यों कहना चाहिये कि आत्मा भी रत्नत्रयस्वरूप ही है। अभिप्राय यह है कि यदि पर पदार्थका संयोग हट जाय और शुद्ध आत्म द्रव्यकी प्राप्ति हो जाय तो उस समय ध्याता ध्यान, ध्येय, रत्नत्रय और शुद्ध आत्मद्रव्य सब एक साथ प्रगट हो जाते हैं।

आगे ऐसे ही ध्यानके अभ्यास करनेका उपदेश देते हैं।

यदीहेत परं तत्त्वं दुष्प्रापं शाश्वतं पदम्।
ध्यानमेतत्ततो यत्नादभ्यस्यतु समाहितः ॥ १८० ॥

अर्थ— संसारमें शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होना ही परम तत्त्व है। इसीको मोक्ष तत्त्व कहते हैं।

यह परमतत्त्व अत्यंत कठिनतासे प्राप्त होता है। और प्राप्त होनेपर फिर वह कभी नष्ट नहीं होता—सदा एकसा बना रहता है। यदि ऐसे इस परमतत्त्वके प्राप्त होनेकी इच्छा करते हो तो सावधान होकर बडे प्रयत्नसे ध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ—मोक्ष तत्त्वके प्राप्त हो जानेपर अनंत सुखकी प्राप्ति होती है। और वह अनंत सुख फिर सदा विद्यमान रहता है। उसमें किसी प्रकारकी कमी या अन्तर नहीं पडता। जिन भव्य जीवोंको ऐसे सदा रहनेवाले अनंत सुख प्राप्त होनेकी इच्छा हो उन्हें अपने मनको निश्चल कर समता धारण कर प्रयत्नपूर्वक ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। विना ध्यानके वह अनंत सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

आगे इस शरीरसे ध्यान कर लेना ही उत्तम है ऐसा दिखलाते हैं।

मर्त्यदेहोतिनिस्सारो यदलावुफलायते।
संसारसिंधुनिस्तारे तदत्र प्रयतो भव॥ ८१ ॥

अर्थ—यह मनुष्यका शरीर अत्यंत निस्सार है परंतु संसाररूपी महासागरसे पार होनेके लिये तूंबीके समान है। इसलिये ऐसे शरीरको पाकर इस संसारसे पार होनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार तूंबी एक निस्सार पदार्थ है। वह किसी काममें नहीं आती। परंतु नदीसे पार होनेमें वह कारण अवश्य है। उसके सहारेसे मनुष्य नदीसे पार भी हो जाते हैं। उसी प्रकार यह मनुष्यका शरीर भी किसी कामका नहीं है। अत्यंत निःसार है। परंतु यदि इस शरीरसे तपश्चरण और ध्यान किया जाय तो यह मनुष्य सहज ही संसार समुद्रसे पार हो सकता है और मोक्षके अनंत सुखको प्राप्त कर सकता है। मनुष्यजन्म पाकर इस शरीरसे तपश्चरण अवश्य कर लेना चाहिये। इसके प्राप्त होनेका मुख्य फल यही है।

आगे शुभकी प्रवृत्ति भी सहज हो सकती है ऐसा दिखलाते हैं।

यदि स्वान्तप्रवृत्त्यैव सम्पद्येते शुभाशुभौ ।
तर्हि स्वान्तं स्वमायत्तं सर्वमेव शुभं सताम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—शुभ अशुभ कर्मोका बंध मनकी प्रवृत्तिसे ही है यह नियम है। तो फिर सज्जन लोगोंको अपना मन अपने वशमें कर लेना चाहिये जिससे कर्मोका बंध सब शुभ ही हो।

भावार्थ—यह निश्चित है कि शुभाशुभ कर्मोका बंध मनकी प्रवृत्तिसे ही होता है। मनकी शुभ प्रवृत्तिसे शुभ कर्मोका बंध होता है। और अशुभ प्रवृत्तिसे अशुभ कर्मोका बंध होता है। तथा मनकी प्रवृत्ति अपने हाथमें है। हम चाहें तो मनमें सदा शुभ विचार ही बनाये रख सकते हैं और चाहें तो सदा अशुभ विचार ही कर सकते हैं। यह बात ठीक है कि मन चंचल है, वह निश्चल नहीं रह सकता। कुछ न कुछ प्रवृत्ति अवश्य करता रहता है। परंतु अभ्यासके द्वारा हम उसकी प्रवृत्तिको बदल सकते हैं। उसकी अशुभ प्रवृत्तियोंको रोक सकते हैं और शुभ प्रवृत्तियोंमें उसे लगा सकते हैं। इसलिये सज्जनोंको उचित है कि मनपर अपना अधिकार रक्खें—उसे अपने वशमें करें। और अशुभ प्रवृत्तिमें न लगने दें। यदि वह अशुभ प्रवृत्तियोंसे रुक जायगा तो फिर उसकी सब प्रवृत्तियां शुभ ही होंगी। और इस प्रकार सहज रीतिसे ही अशुभ कर्मोका बंध रुक जायगा। फिर उसके सदा शुभ कर्मोका ही बंध होता रहेगा। यह धर्मध्यानका सहज उपाय है।

आगे धर्मध्यान विना परिश्रमके होता है ऐसा दिखलाते हैं।

देहायासैर्भवत्येव रौद्रार्त्तध्यानसम्भवः ।
त्रिविधायासनाशे तु धर्मध्यानं प्रवर्तते ॥ १८३ ॥

अर्थ— शरीरके परिश्रम करनेसे रौद्र ध्यान और आर्तध्यान उत्पन्न होता है। परंतु मन, वचन, काय तीनोंके परिश्रमको नष्ट कर देनेसे धर्मध्यान उत्पन्न होता है।

भावार्थ— आर्तध्यान, रौद्रध्यान दोनों ही अशुभ ध्यान हैं। दोनों ही पापबंधके कारण हैं और दोनों ही शरीरके परिश्रमसे होते हैं। अथवा मन, वचन, काय तीनों योगोंके परिश्रमसे होते हैं। तीनों योगोंकी प्रवृत्तिसे होते हैं। परंतु धर्मध्यान उन तीनों योगोंकी प्रवृत्ति न करनेसे होता है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करनेमें शरीरको परिश्रम करना पडता है। शरीरकी प्रवृत्तिमें—शरीरके द्वारा काम करनेमें तो शरीरको खेद होता ही है। तथा वचनकी प्रवृत्ति होनेमें–बोलते रहनेमें भी शरीरको खेद होता है। बोलते बोलते भी मनुष्य थक जाता है। इसी प्रकार किसी पदार्थका चिंतवन वा विचार करते करते भी मनुष्य थक जाता है। उसके मस्तकमें पीडा होने लगती है। इस प्रकार मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिमें शरीरको परिश्रम करना ही पडता है। परंतु मन, वचन, कायको वश करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पडता। क्योंकि उसमें कोई क्रिया करनी ही नहीं पडती है। तथा मन, वचन, कायको वश करनेसे धर्मध्यान उत्पन्न होता है। इस प्रकार धर्मध्यान तो अनायास ही हो जाता है। उसके लिये कुछ करना नहीं पडता। और आर्त, रौद्र ध्यानके लिये खेद वा परिश्रम करना पडता है। फिर भी पापका बंध होता है। इस लिये मनुष्यमात्रको धर्मध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिये। यह सहजमें विना किसी परिश्रमके हो जाता है और परंपरासे मोक्षका कारण है।

आगे निश्चय मनसे ही ध्यान हो सकता है ऐसा दिखलाते हैं।

बहिरन्तस्तमो वातैरस्पन्दं दीपवन्मनः।
यस्य स्याद्वीतमोहस्य स ध्यानं ध्यातुमर्हति ॥ १८४ ॥

अर्थ–जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है ऐसे जिस पुरुषका मन अन्तरंग और बहिरंग अंधकाररूपी वायुसे चलायमान नहीं होता दीपके समान निश्चल हो जाता है वही पुरुष धर्मध्यानका चिंतवन कर सकता है।

भावार्थ——जो दीपक वायुके झकोरेसे बचा रहेगा वही दीपक निश्चल ठहर कर प्रकाश कर सकेगा। इसी प्रकार जिस वीतराग वा निर्मोही मुनिका मन बहिरंग और अंतरंग अन्धकाररूपी वायुसे बचा रहेगा—जिस मनमें न तो अंतरंग विकार उत्पन्न होंगे और न उसपर बहिरंग पदार्थोंका कुछ असर पडेगा—जिसके मनमें कोई किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होगा वही ध्याता ध्यान कर सकेगा। विकार सब मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं इसलिये मनको निर्मल और निश्चल करनेकेलिये मोहको दूर करना चाहिये। बाह्य सब पदार्थोंसे ममत्व हटा देना चाहिये। और इस प्रकार हृदयको शुद्ध निर्विकार और निश्चल बना कर ध्यान करना चाहिये।

आगे मनकी गति दिखलाते हैं।

स्वान्तेनन्तप्रभावेस्मिन् स्वभावात्पारदास्थिरे।
तस्मिन्नेव स्थिरीभूते सिद्धं साध्यं महात्मनाम्॥ १८५॥

अर्थ——इस मनका प्रभाव अनंत है परन्तु यह पारेके समान स्वभावसे ही चंचल है। यदि यही मन स्थिर वा निश्चल हो जाय तो फिर महात्माओंके सब साध्य सिद्ध हो गये समझना चाहिये।

भावार्थ——जिस प्रकार पारा चंचल है उसी प्रकार मन चंचल है। यदि यह मन निश्चल हो जाय तो फिर मोक्ष प्राप्त होनेमें भी देर न लगे। शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाय। अतएव मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये मनको निश्चल करनेका अभ्यास करना चाहिये।

आगे ध्यानका लाभ बतलाते हैं।

निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहंसे सर्वथास्थिरे।
बोधहंसः प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे॥ १८६॥

अर्थ—— यदि मनरूपी हंस अपना व्यापार करना छोड दे और आत्मरूपी हंस सर्वथा स्थिर होजाय तो फिर इस तीनों लोकरूपी सरोवरमें ज्ञानरूपी हंसकी ही प्रवृत्ति हो जाय।

भावार्थ— यह तीनों लोक एक प्रकारका सरोवर है । इसमें आत्मा चारों ओर परिभ्रमण किया करता है । मन सब ओर अपना व्यापार किया करता है । जब तक आत्माका परिभ्रमण और मनका व्यापार प्रचलित रहता है तब तक ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । जब आत्माका परिभ्रमण रुक जाता है और मनका व्यापार बंद हो जाता है तथा शुद्ध ध्यानकी प्राप्ति हो जाती है तभी यह आत्मा उस निश्चय-ध्यानके प्रभावसे समस्त कर्मोको नष्ट कर तीनों लोकोंमें व्याप्त होनेवाले केवल ज्ञानको प्राप्त कर लेता है । इसीलिये कहा है कि इस तीनों लोकरूपी सरोवरमें केवल ज्ञानरूपी हंसकी प्रवृत्ति तभी होगी जब कि आत्मा स्थिर हो जायगा और मनका व्यापार बंद हो जायगा । अतएव परमात्म पद प्राप्त करनेकेलिये मनको निश्चल करना चाहिये। विना मनको निश्चल किये परमात्म पद कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।

आगे आत्माकी शक्ति बतलाते हैं ।

मोहादिशत्रुसैन्यानां यस्मान्नैव विधिर्मतः ।
तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परंब्रह्म समाश्रितः ॥ १८७ ॥

अर्थ—जिस आत्माके सामने मोह आदि अंतरंग शत्रुओंकी सेना कुछ काम नहीं कर सकती उस आत्माके अनंत प्रभावको देखकर परमात्मपदको प्राप्त हुए पुरुष इस संसारमें कुछ आश्चर्य नहीं करते हैं ।

भावार्थ—आत्माकी अनंत शक्ति है । उसके सामने प्रबल भी कर्म कुछ नहीं कर सकते । यद्यपि इस संसारमें कर्म समस्त जीवोंको दुःख दे रहे हैं । परंतु वे उन्हीं जीवोंको दुःख दे सकते हैं जिनकी आत्मशक्ति प्रगट नहीं है । जिनकी आत्मशक्ति प्रगट हो जाती है उनके सामने कर्म फिर कुछ नहीं कर सकते । आत्माकी ऐसी प्रबल शक्तिको देखकर यद्यपि आश्चर्य होना चाहिये तथापि परमात्म पद प्राप्त होजानेपर कुछ आश्चर्य नहीं होता है । फिर वह शक्ति स्वाभाविक ही जान पडती है । इसलिये निश्चय ध्यानके द्वारा परमात्म पद प्राप्त कर लेना चाहिये ।

आगे ध्यानकी और भी महिमा दिखलाते हैं ।

प्रभावैश्वर्यसंवेददेवतादर्शनादयः ।
ध्यानोन्मेषाद्भवन्तोपि नैते तत्त्वविदां मुदे ॥ १८८ ॥

अर्थ—यद्यपि ध्यानके प्रभावसे प्रभाव ऐश्वर्य ज्ञान और देवदर्शन आदि अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली महिमाएं प्राप्त होती हैं तथापि आत्मतत्त्वको जाननेवाले ध्यानी पुरुषोंको उनसे कोई भी आनंद प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थ—जिन्हें आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो गया है—जिन्हें स्वानुभूतिके परम सुखका आनंद प्राप्त होगया है उन्हें उसी आत्मसंवेदन में—आत्माके अनुभव वा ज्ञानमें परम आनंद प्राप्त होता है । फिर उन्हें प्रभाव ऐश्वर्य अनेक देवोंका आकर दर्शन करना आदि बहिरंग विभूतिमें कुछ भी सुख नहीं मिलता । इसलिये ध्यानके द्वारा आत्मतत्त्व जानना चाहिये—स्वानुभूति प्रगट होनी चाहिये । यही ध्यानका मुख्य फल है ।

आगे इसी स्वानुभूतिको प्रगट करनेवाले ध्यानकी दुर्लभता दिखलाते हैं ।

भूमौ भवन्ति रत्नानि परं सर्वत्र नोद्भवः ।
तथा स्वानुभवं ध्यानं दुर्लभं सर्वदेहिषु ॥ १८९ ॥

अर्थ—भूमिमें रत्न उत्पन्न होते हैं परन्तु वे सब जगह नहीं होते । उसी प्रकार स्वानुभूतिको प्रगट करनेवाला ध्यान होता है परन्तु वह सब जीवोंके नहीं हो सकता । उसका सब जीवोंके होना अत्यंत कठिन है ।

भावार्थ—यद्यपि स्वानुभूतिको प्रगट करनेवाला ध्यान आत्माका निज स्वभाव है तथापि वह सब प्राणियोंके नहीं हो सकता । मोहनीय कर्मकी प्रबलता उसे होने नहीं देती । जिन जीवोंके मोहनीय कर्म शांत हो जाता है उन्हींके यह परम ध्यान हो सकता है । इसलिये परम ध्यान और परमात्मपद प्राप्त करनेकेलिये सबसे पहले मोहको हटाना चाहिये । मोह और मोहकी सेना कषायादिकके नष्ट हो जानेपर वा शांत हो जानेपर वह ध्यान अवश्य हो जाता है ।

आगे ध्यानका समय बतलाते हैं।

ध्यानमानं वदन्त्यन्तर्मुहूर्तं मुनयः परम् ।
सुस्थिरं लयमापन्नं दुर्द्धरं तत्परं मनः ॥ १९० ॥

अर्थ—अत्यंत स्थिर और अत्यंत लीन हुए ध्यानका समय गणधरादि देव अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। अन्तर्मुहूर्तसे अधिक मन किसी एक पदार्थमें निरंतर ठहर नहीं सकता।

भावार्थ - मनका एक जगह स्थिर होना ही ध्यान है। मन अत्यंत चंचल है। उसे अत्यंत बलवान् पुरुष भी अधिक देर तक निश्चल नहीं कर सकता। जिनका संहनन उत्तम है उनके भी अंतर्मुहूर्तसे अधिक ध्यान नहीं हो सकता। इससे आगे किसी एक पदार्थमें मनका रुकना असंभव है।

आगे ध्यानके कारण बतलाते हैं।

निर्वेदोदयसम्पत्तिः स्वान्तस्थैर्यं रहःस्थितिः ।
विविधोर्मिसहत्वं तु साधूनां ध्यानहेतवः ॥ १९१ ॥

अर्थ—संसारके दुःखोंसे डरकर वैराग्यका प्राप्त होना, मनका स्थिर होना, एकान्त स्थानमें निवास करना और अनेक प्रकारके उपसर्गोंके सहन करनेकी शक्तिका होना ये सब मुनियों के लिये ध्यानके साधन हैं।

भावार्थ—ध्यानके लिये सबसे मुख्य साधन वैराग्य है। जबतक इस जीवको वैराग्य नहीं होता तब तक ध्यान हो नहीं सकता। तथा वैराग्य तभी होगा जब कि उसे संसारके दुःखोंसे डर लगेगा। संसारके अनंत दुःखोंको देखकर उसका आत्मा कंपायमान होगा और इसीलिये संसारको छोड देने के लिये सर्वथा तैयार हो जायगा। संसारको छोड देनेके लिये तैयार हो जाना ही वैराग्य है। वैराग्य के होजानेपर मनको स्थिर करने की आवश्यकता होती है। मनको स्थिर वा निश्चल किये विना भी ध्यान नहीं हो सकता। और मनका निश्चल होना एकांतमें होना है। इन सब साधनों के मिल जानेपर भी यदि अनेक प्रकारके उपसर्ग सहने की शक्ति

न हो तो भी ध्यान नहीं हो सकता। विना सहन शक्ति के थोडासा उपद्रव भी ध्यानको चलायमान कर सकता है। अतएव ध्यानके लिये इन सब साधनों की आवश्यकता है। ये ध्यानके मुख्य साधन वा कारण हैं।

आगे ध्यानमें विघ्न करनेवाले कारणों को कहते हैं।

स्वान्तास्थैर्यं विपर्यासं प्रमादालस्यविभ्रमा।
रौद्रार्ताधि यथास्थानमेते प्रत्यूहदायिनः॥ १९२॥

अर्थ-मनका निश्चल न होना, प्रतिकूल ज्ञानका होना, प्रमाद, आलस्य विभ्रम, और ऐसे स्थानकी प्राप्ति जिसमें रौद्रध्यान अथवा आर्तध्यान उत्पन्न हो सके—ये सब ध्यानमें विघ्न करनेवाले हैं।

भावार्थ—यह पहले भी बता चुके हैं कि यदि मन न होगा तो ध्यान कभी नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार यदि विपरीत ज्ञान होगा तो भी ध्यान नहीं हो सकेगा। विपरीत ज्ञानमें आत्माके स्वरूपका भी भान नहीं हो सकता फिर स्वानुभूति का होना तो अत्यंत कठिन है। इसलिये विपरीत ज्ञान भी ध्यानका बाधक है। प्रमाद और आलस्यके होनेसे भी मन निश्चल नहीं हो सकता और न आत्मा किसी पदार्थका चिंतवन कर सकता है। इसलिये ये दोनों भी ध्यानके बाधक हैं। इसी प्रकार ध्यानकी अनिच्छा अथवा आत्मस्वरूपके जाननेकी अनिच्छा वा स्वानुभूतिके प्रगट होनेकी अनिच्छा भी ध्यानकी बाधक है। क्योंकि अनिच्छासे आत्माका उत्साह नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जिन स्थानोंमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान उत्पन्न होनेकी संभावना हो वहां भी चित्त विचलित ही रहता है। इसलिये ध्यान करते समय ऐसे स्थानोंका परित्याग कर देना भी अत्यावश्यक है। जो ध्याता इन सब विघ्न बाधाओंसे बचकर ध्यान करता है वही उत्तम और निर्विघ्न ध्यान कर सकता है।

आगे शुद्ध ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं।

शुद्धध्यानसुधाम्भोधिविन्दुमप्यालिहन् मुहुः।
भव्यो ध्रुवं समायाति शिवश्रीसदनस्थितिम्॥ १९३॥

अर्थ—जो भव्य जीव शुद्ध ध्यानरूपी अमृतके समुद्रकी एक बूंदका भी बार बार स्वाद लेता है वह अवश्य ही मोक्षलक्ष्मीके महलमें जा विराजमान होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार अमृतकी एक बूंदका स्वाद भी अपूर्व आनंदको देनेवाला है उसी प्रकार शुद्ध ध्यान भी एक अमृतका महासागर है । सागरमें अनंत जल होता है और शुद्ध ध्यानमें अनंत सुखामृत भरा हुआ है । इस सुखामृतका कहीं पार नहीं है । अतएव जो भव्य जीव इसकी एक बूंदका भी बार बार स्वाद लेता है—शुद्ध ध्यानको बार बार धारण करता है वह मोक्ष लक्ष्मीके अनंत सुखोंको अवश्य प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ।

आगे—जो शुद्ध ध्यान धारण नहीं कर सकता उसे रूपस्थ ध्यान धारण करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं ।

यदि शुद्धात्मनो ध्यानं ध्यातुं नैवेह पार्यते ॥
मूर्तिरूपः प्रभुः स्वान्ते सर्वदा ध्यायतां ततः ॥ १९४ ॥

अर्थ—जो ध्याता शुद्ध आत्माका ध्यान धारण नहीं कर सकता उसे सदा मूर्तरूप भगवान् अरहंत देवका ध्यान धारण करना चाहिये ।

भावार्थ—शुद्ध आत्माके ध्यान करनेकेलिये अपने आत्माके अत्यंत शुद्ध होनेकी आवश्यकता होती है। शुद्ध आत्मा ही शुद्ध आत्माका ध्यान कर सकता है । काम क्रोध मोह आदि विकारोंसे जटिल आत्मा शुद्ध आत्माका ध्यान कभी नहीं कर सकता । अतएव जिसका आत्मा इन विकारोंसे रहित नहीं हुआ है उसे भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना चाहिये ।

आगे उन्हीं अरहंत देवका स्वरूप दिखलाते हैं ।

देवं देवसभासंस्थं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥
सर्वातिशयसंभारं सर्वैश्वर्यप्रसाधितम् ॥ १९५ ॥
सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्यं सर्वेश्वरमनीश्वरम् ॥
सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वाश्रयमनाश्रयम् ॥ १९६ ॥

प्रभवं सर्वविद्यानां सर्वविश्वपितामहम् ।
सर्वसत्वहितारम्भं सर्वातीतमतीन्द्रियम् ॥ १९७ ॥
नम्रामरशिरोरत्नविद्योतितपदद्वयम् ॥
स्तूयमानं महाविद्यै र्ब्रह्माद्यैर्ब्रह्मधारिभिः ॥ १९८ ॥
निरूपं रूपिताशेषमशब्द शब्दशाश्वतम् ॥
निःस्पर्श बोधसंस्पर्शमरसं सरसस्तवम् ॥ १९९ ॥
शीलैः सुरभितात्मानं शीलामृतमहाम्बुदम् ॥
व्यतीतेन्द्रियसम्बन्धमिन्द्रियार्थाविभासनम् ॥ २०० ॥
भुवनानन्दसस्यानामम्भस्तापमलापहम् ॥
पवनं दोषधूलीनां वन्हिमेनोमहीरुहाम् ॥ २०१ ॥
सर्वप्रदं सदर्थानां व्योमालेपादिसम्पदाम् ॥
भानुं भव्यारविन्दानामिन्दुं शर्मामृतश्रियाम् ॥ २०२ ॥
ध्यायेद्विश्वत्रयाधीशमर्हन्तं सर्वसम्पदे ॥
सर्वाद्भुतमहाविद्यास्थानं शिवपदे स्थितम् ॥ २०३ ॥

अर्थ— जो भगवान् अरहंत देव देवाधिदेव हैं, आठों प्रातिहार्योंसे शोभायमान, समस्त चौंतीसों अतिशयोंसे सुशोभित समवसरण सभामें विराजमान हैं, जिन्होंने अपने अन्तरंग बहिरंग समस्त ऐश्वर्य सिद्ध कर लिये हैं, तीनों लोकोंके इंद्रादि समस्त महापुरुष जिनकी स्तुति करते हैं तथापि जिनकी स्तुति किसीसे भी नहीं हो सकती, जो सबके ईश्वर—इन्द्र चक्रवर्ती आदि सब जिन्हें अपना परम ईश्वर मानते हैं, तथापि जो किसीके ईश्वर नहीं हैं—अपना स्वामीपना किसीपर प्रगट नहीं करते हैं। अथवा जिनका अन्य कोई ईश्वर नहीं है। वे स्वयं ईश्वर हैं। तीनों लोकोंके समस्त जीव जिनकी आराधना करते हैं तथापि जिनकी आराधना किसीसे हो नहीं सकती। जो भगवान् समस्त जीवोंके आश्रय हैं सब जीव जिनकी शरणमें आकर आश्रय लेते हैं तथापि वे भगवान किसीके आश्रय नहीं हैं॥ १९६ ॥

जो भगवान् समस्त विद्याओंको उत्पन्न करनेवाले हैं, जिनसे समस्त विद्याएं प्रगट हुई हैं, जो तीनों लोकोंके महापुरुष वा आदिपुरुष हैं, जिनकी समस्त विहार आदि क्रियाएं अथवा समस्त आरंभ तीनों लोकोंके जीवोंके हितकेलिये ही होते हैं, विहार करते हुए दिव्य उपदेश देकर जो समस्त भव्य जीवोंका कल्याण करते हैं, जो सांसारिक समस्त झगडोंसे रहित हैं, जिनका स्वरूप इंद्रियोंके द्वारा जाना नहीं जा सकता ॥ १९७ ॥

जिनके दोनों चरणकमल नमस्कार करते हुए इंद्रादि देवोंके मस्तकोंमें [उनके मुकुटोंमें] लगे हुए रत्नोंकी प्रभासे सदा दैदीप्यमान रहते हैं, ब्रह्मचर्यको धारण करनेवाले आचार्य, उपाध्याय, साधु, तथा ब्रह्मा विष्णु महेश और महाविद्याओंको धारण करनेवाले गणधरादिक देव सब जिनकी स्तुति करते हैं ॥ १९८ ॥

जो रूप रहित अरूपी हैं, जिन्होंने अपने रूपका प्रभाव समस्त संसारपर डाल रक्खा है, जो शब्द रहित हैं, तथापि जिनका दिव्योपदेश सदा विद्यमान रहता है, जिनका निरूपण किया हुआ मोक्षमार्ग, सदा विद्यमान रहता है । जो स्पर्श रहित हैं । कोई भी जिनका स्पर्श नहीं कर सकता, तथापि केवलज्ञानके द्वारा जिनका स्पर्श किया जा सकता है–ज्ञानके द्वारा जिनका स्वरूप जाना जा सकता है, जो रस रहित हैं तथापि जिनकी स्तुति सरस है, जिनकी स्तुति करनेमें वडा ही आनंद आता है, जिन्होंने शीलके अठारह हजार भेदोंको पूर्ण रीतिसे पालन कर अपने आत्माको सुगंधित कर दिया है, जो शीलरूपी अमृतको वरसानेकेलिये महाबादलोंके समान हैं, जिन्होंने इंद्रियोंका संबंध सब छोड दिया है तथापि जो इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले हैं, जो संसारी समस्त जीवोंके आनंदरूपी छोटे छोटे धान्यके ही पौधोंको बढानेकेलिये तथा संताप और मलको दूर करनेकेलिये निर्मल जलके समान हैं, दोषरूपी धूलिको

उडानेकेलिये वायुके समान हैं, पापरूपी वृक्षोंको जलानेकेलिये अग्निके समान हैं, जो संसारी जीवोंको धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थोंके देनेवाले हैं, आकाशके समान समस्त संपदाओंसे अलिप्त हैं, भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यके समान हैं, कल्याणरूपी अमृत लक्ष्मीको देनेकेलिये जो चंद्रमाके समान हैं, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, जो अद्भुत महाविद्याओंके उत्पत्तिस्थान हैं और जो जीवित अवस्थामें ही कल्याणमय मोक्ष स्थानमें विराजमान हैं। ऐसे भगवान् अरहंत देवका ऊपर लिखी हुई समस्त संपदाओंको प्राप्त करनेकेलिये ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवमें अनंत गुण हैं और अनंत शक्ति है। उन सबका स्मरण करते हुए उनका ध्यान करना चाहिये। उनका ध्यान करनेसे वे समस्त संपदाएं और समस्त गुण व शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। जो गृहस्थ वा मुनि रूपातीत ध्यान नहीं कर सकते, सिद्धों का ध्यान नहीं कर सकते–शुद्ध आत्माका ध्यान नहीं कर सकते उन्हें अरहंत भगवान्‌का ध्यान अवश्य करना चाहिये।

सिद्धं बुद्धं शिवं शान्तं सर्वदं सर्ववन्दितम्।
सवीर्यं सर्वशाखानां हितं हितपदे स्थितम् ॥ २०४ ॥

अर्थ—वे भगवान् अरहंत देव सिद्ध हैं, बुद्ध हैं कल्याणमय हैं, शांत हैं, समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, सब लोगोंके द्वारा वंदनीय हैं, अनंतशक्तिसे सुशोभित हैं, समस्त जीवोंके कल्याण करनेवाले वा सबका हित करनेवाले हैं और कल्याणमय स्थानमें विराजमान हैं।

भावार्थ—अरहंत देवके ये सब गुण हैं। उनका ध्यान करते समय इन सब गुणोंका चिंतवन करना चाहिये।

आगे अरहंतदेवके ध्यान करनेका फल दिखलाते हैं।

प्राहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रपदोदयः।
तस्मादपि हि लभ्यन्ते शर्मदाः सर्वसम्पदः ॥ २०५ ॥

अर्थ—भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेसे परम ब्रह्म पदकी प्राप्ति होती है, उन्हींका ध्यान करनेसे इंद्र पदकी प्राप्ति होती है, और उन्हीं भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेसे कल्याण करनेवाली समस्त संपदाएं प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—भगवान् अरहंतदेवका आत्मा परम शुद्ध है इसलिये उनका ध्यान करनेसे अपना आत्मा भी शुद्ध हो जाता है तथा अतिशय पुण्यकी प्राप्ति होती है। उस अतिशय पुण्यके प्रभावसे सब संपदाएं, सब सुख, सब कल्याण प्राप्त होते हैं। इंद्र चक्रवर्ती आदिके परमपद प्राप्त होते हैं और अरहंतदेवका परमपद प्राप्त होता है। इसलिये उनका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

आगे फिर भी अरहंतदेवका स्वरूप दिखलाते हैं।

ध्येयमध्यात्मतीर्थेषु सुसंवेद्यं यदिष्यते।
तदेव तस्य स्वं रूपं नीरूपं रूपितात्मनः॥ २०६॥

अर्थ—अध्यात्म तीर्थमें जिस पदार्थका ध्यान करना चाहिये और जिसे अच्छी तरह मनन करना चाहिये ऐसा पदार्थ संसार भरमें जो उत्तम गिना जाता है वही अपने आत्माके स्वरूपको प्रगट करनेवाले भगवान् अरहंत देवका स्वरूप है और वह अरूपी वा अदृश्य है।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवका निज स्वरूप ही ऐसा है कि जो केवल आत्माके द्वारा आत्मामें लीन होकर ध्यान किया जा सके और जिसका अनुभव मनन वा ज्ञान अच्छी तरह करने योग्य हो। इसीलिये वह ध्येय गिना जाता है। वह अरहंत देवका स्वरूप अरूपी है, इंद्रियोंके अगोचर है; साधारण संसारी जीवोंके गम्य नहीं है। केवल योगी जन ही उसका ध्यान कर सकते हैं।

आगे अरहंतदेवके ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं।

तपःश्रुतिविहीनोपि तद्ध्यानाविद्धमानसः।
न देही दह्यते तीव्रैर्दुस्सहैर्भववन्हिभिः॥ २०७॥

अर्थ—जो पुरुष अपने हृदयमें भगवान् अरहंत देवका ध्यान करता है वह तपश्चरण न करने पर भी तथा शास्त्र ज्ञानसे रहित होनेपर भी अत्यंत तीव्र और असह्य ऐसी संसाररूपी अग्निसे नहीं जलता।

भावार्थ—संसारके दुःख अग्निके समान हैं। उनसे यह प्राणी सदा जलता रहता है। वे दुःख अत्यंत तीव्र हैं और अत्यंत असह्य हैं। उनके दूर करनेका उपाय तपश्चरण और शास्त्रज्ञान है। क्योंकि वे दुःख कर्मों के उदयसे होते हैं और वे कर्म तपश्चरण व शास्त्रज्ञानसे नष्ट होजाते हैं। कर्मोंके नाश होनेपर दुःख अपने आप दूर हो जाते हैं। इस प्रकार यद्यपि दुःखोंके दूर करनेका उपाय तपश्चरण और शास्त्रज्ञान है। तथापि भगवान् अरहंत देवका ध्यान इनसे भी बढकर है। वह अरहंत देवका ध्यान विना तपश्चरण और विना शास्त्रज्ञानके अकेला ही संसारके समस्त दुःखोंको दूर कर देता है। इसलिये संसारी प्राणियोंको अपने दुःख दूर करनेकेलिये और अनंतसुख प्राप्त करनेकेलिये भगवान् अरहंत देवका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

आगे और भी इस ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं।

समधीत्यापि सिद्धान्तं विधायापि परं तपः।
मन्त्रमेनं स्मरन्त्येव यतयोनन्यमानसाः॥ २०८॥

अर्थ—परम मुनिराज सिद्धांतशास्त्रोंको अच्छी तरह पढकर भी और उत्कृष्ट तपश्चरण धारण करके भी एकाग्रचित्त होकर इस मंत्रका स्मरण करते हैं।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवके ध्यान करनेका मंत्र इतना उत्तम और इतना पवित्र है कि इसे बडे बडे मुनिराज चिंतवन करते हैं और वे भी समस्त सिद्धांतशास्त्रोंके पारगामी होकर और उत्तमोत्तम घोर तपश्च-रण पालन करने पर भी एकाग्र चित्तसे चिंतवन करते हैं। भगवान् अरहंत देवका ध्यान उत्कृष्ट तपश्चरण और श्रुतज्ञानसे भी बढकर है।

मन्त्रोयं स्मृतिधाराभिः स्वान्तं यस्याभिवर्षति ।
तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति भीमोपद्रवपांशवः ॥ २०९ ॥

अर्थ—यह मंत्र अपने चिंतवनकी धारासे बरसकर जिसके मनको सिंचन करता है उसके मनके समस्त भयंकर उपद्रवरूपी धूलिके कण शांत हो जाते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार वर्षा होनेसे सब धूलि दब जाती है । जहां धारापूर्वक जोरकी वर्षा होती है वहां धूलिका एक कणा भी नहीं रह सकता । उसी प्रकार जिसके मनमें भगवान् अरहंत देवका ध्यान होता है उसके मनमें फिर कोई उपद्रव नहीं हो सकता । यह ध्यान उपद्रवरूपी धूलिको शांत करनेकेलिये वर्षाके समान है । इसलिये भगवान् अरहंत देवके नामका जप गृहस्थोंको वा मुनियोंको अवश्य करना चाहिये ।

पवित्रो वाऽपवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोपि वा ।
भवत्येतत्स्मृतेर्देही मन्दिरं सर्वसम्पदाम् ॥ २१० ॥

अर्थ—यह मनुष्य चाहे पवित्र हो चाहे अपवित्र हो, चाहे अच्छी दशामें हो; और चाहे बुरी दशामें हो इस मंत्रके स्मरण करने मात्रसे ही समस्त संपत्तियोंका मंदिर बन जाता है ।

भावार्थ—भगवान अरहंत देवके ध्यनकेलिये जिस प्रकार अंतरंग शुद्धिकी आवश्यकता है उसी प्रकार बाहरकी शुद्धिकी आवश्यकता भी है । स्नानादि कर शुद्ध होनेके बाद ध्यान करनेसे उस ध्यानमें मन अच्छा लगता है तथापि यदि कोई मुनि वा साधक रोगी हो वा अंतिम अवस्थामें हो मृत्युके सन्मुख हो और उस समय पवित्र और शुद्ध होनेकी कोई संभावना न हो तो भी उसे उस समय वैसी अवस्थामें भी भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना चाहिये । यह ध्यान समस्त संपत्तियोंका देनेवाला है, समस्त ऋद्धि सिद्धियोंको पूरा करनेवाला है । इसलिये अच्छी बुरी कैसी ही अवस्था क्यों न हो, दुःखी सुखी पवित्र अपवित्र कैसा ही क्यों न हो उसे भगवान् अरहंत देवका ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

आगे ध्यानकी भावना कब हो सकती है सो दिखलाते हैं।

विनाशे सर्वपापानां ध्याने भवति भावना।
पापोपहतबुद्धीनां ध्यानवार्तापि दुर्लभा ॥ २११ ॥

अर्थ— जब समस्त पापोंका नाश हो जाता है तभी हृदयमें ध्यान करनेकी भावना प्रगट होती है। जिनकी बुद्धिमें पाप भरे हुए हैं अनेक पापोंसे जिनकी बुद्धि मारी गई है उनके मनमें ध्यान करनेकी बात उत्पन्न होना भी अत्यंत कठिन है।

भावार्थ - समस्त कर्मोंमें मोहनीय कर्म प्रबल है। मिथ्यात्व भी उसीका एक भेद है। उस मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवकी बुद्धि विपरीत हो जाती है। उसपर परदा पड जाता है और फिर वह कभी भी अपने हितकी बात नहीं सोच सकता। ऐसी अवस्थामें भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना अत्यंत ही कठिन है, असंभव ही समझना चाहिये। ध्यान करना तो दूर रहो; ध्यान करनेकी बात भी उसके मनमें कभी उत्पन्न नहीं होती है। जब कभी काललब्धि पाकर उसका मिथ्यात्व कर्म नष्ट होता है; सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है तभी भगवान् अरहंत देवमें रुचि उत्पन्न होती है और तभी वह उनका ध्यान कर सकता है। अभिप्राय यह है कि भगवान्के ध्यान करनेकी योग्यता बडी कठिनतासे प्राप्त होती है। उत्तम कुल, उत्तम धर्म और ध्यानकी योग्यता पाकर प्रमाद नहीं करना चाहिये। भगवान्का ध्यान अवश्य करते रहना चाहिये।

आगे ध्यान करनेवालेके पाप नहीं आ सकते ऐसा उदाहरण देकर दिखलाते हैं।

दधिभावमितं स्तन्यं न पुनः स्तन्यतां श्रयेत्।
तद्वद् ध्यानविशुद्धात्मा पुनः पापैर्न लिप्यते ॥ २१२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी दूधका दही जम जानेपर फिर उस दही का दूध नहीं बन सकता उसी प्रकार जिसका आत्मा ध्यानसे अत्यंत विशुद्ध होगया है वह कभी भी पापोंसे लिप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ—अनादि संसारसे यह आत्मा कर्मोंसे लिप्त हो रहा है और क्रोधादि कषायोंसे अशुद्ध हो रहा है। यदि एकवार भी इस आत्माके क्रोधादिक कषाय और मिथ्यात्व कभी शांत हो जांय तथा भगवान् अरहंतदेवके पवित्र ध्यानसे यह आत्मा शुद्ध हो जाय तो फिर वह आत्मा अशुद्ध नहीं हो सकता फिर उसके कोई भी पाप कर्म नहीं आ सकते। पाप कर्म कषायोंसे आते हैं और कषाय भगवानके ध्यानसे सब नष्ट हो जाते हैं। इसलिये भगवानका ध्यान करनेवालेके कभी पापकर्म नहीं आसकते।

आगे ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं।

यायाद् व्योम्नितरे तोये निषीदेद्भास्वरेनले ।
मनोमरुत्प्रभावस्थः शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥ २१३ ॥

अर्थ—यह मनुष्य चाहे आकाशके नीचे अगाध जलमें चला जाय और चाहे देदीप्यमान अग्निमें बैठ जाय। यदि वह मनकी वायुके प्रभावमें विराजमान है तो उसे कहीं भी बाधा नहीं हो सकती; उसे अनेक शस्त्रोंसे भी किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुंच सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार वायुके प्रभावमें बैठा हुआ मनुष्य पानीमें नहीं डूब सकता वह ऊपर ही तैरता रहता है उसी प्रकार जो पुरुष भगवानके ध्यानरूपी वायुके भीतर बैठ जाता है वह अगाध जलमें भी कभी नहीं डूब सकता। न वह अग्निमें जल सकता है; क्योंकि जिस प्रकार वायु अग्निको दूर हटा देती है उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु भी अग्निको हटा देती है। भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेवाला किसी भी आपत्तिमें नहीं फस सकता और न उसपर किसी शस्त्रका प्रहार हो सकता है।

रूपं स्पर्शं रसं शब्दं सौरभं दूरतः स्थितम् ।
प्रत्यासन्नमिवादत्ते तत्त्वस्याभ्यासतो मुनिः ॥ २१४ ॥

अर्थ—रूप रस गंध स्पर्श और शब्द ये पांचो इंद्रियोंके विषय चाहे

कितनी ही दूर हों परंतु आत्मतत्त्वका अभ्यास करनेवाले मुनि उन्हें समीप रक्खे हुएके समान ही ग्रहण कर लेते हैं ।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेसे वा शुद्ध आत्माका ध्यान करनेसे आत्माकी शक्ति तो बढ ही जाती है; साथ में इंद्रियोंकी शक्ति भी बढ जाती है । ध्यान करने वाला योगी अत्यंत दूर रहनेवाले रूप रस आदि इंद्रियोंके विषयोंको भी ग्रहण कर लेता है । ध्यानकी अपार महिमा है। वह कही भी नहीं जा सकती । इसलिये ध्यान करनेका अभ्यास अवश्य कर लेना चाहिये।

आगे आत्माकी शुद्धता दिखलाते हैं ।

देही शिवः शिवो देही तयोर्भेदो न विद्यते ।
पाशबद्धो भवेद्देही पाशहीनः सदा शिवः ॥ २१५ ॥

अर्थ—यह आत्मा ही मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा है । आत्मा और मोक्षमें कोई किसी प्रकारका अन्तर नहीं है । कर्मोंसे लिप्त हुआ आत्मा संसारी आत्मा कहलाता है और कर्मोंसे रहित आत्मा मोक्ष वा मुक्तात्मा कहलाता है ।

भावार्थ — कर्मोंसे लिप्त हुआ यह आत्मा अनादि कालसे पंच-परावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण कर रहा है । जिस समय यह आत्मा भगवान् अरहंत देवका ध्यान कर कर्मोंसे रहित हो जाता है उसी समय वही आत्मा मुक्त हो जाता है । इसलिये आत्मा और मोक्षमें कोई अंतर नहीं है । मोक्ष शुद्ध आत्मस्वरूप है और शुद्ध आत्मा मोक्षस्वरूप है । अतएव मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये भगवान्का ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

स्वभावान्मलिनो देहः पुमानत्यंतनिर्मलः ।
देहाद्भिन्नं विधायैनं ध्यायतां नित्यनिर्मलः ॥ २१६ ॥

अर्थ— यह शरीर स्वभावसे ही मलिन है और आत्मा स्वभावसे ही अत्यंत निर्मल है । इसलिये इस आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न मानकर आत्माके नित्य निर्मल स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ।

भावार्थ— आत्माका स्वभाव भिन्न है और शरीरका स्वभाव भिन्न है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानमय है और अत्यंत निर्मल है। तथा शरीर जड है। हड्डी, मांस, रुधिर आदि अत्यंत अपवित्र और मलिन वस्तुओंसे बना हुआ है। अतएव आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझना चाहिये और उसके स्वयं शुद्ध स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।

आगे यह आत्मा कभी मलिन नहीं होता ऐसा दिखलाते हैं।

तोयमध्ये यथा तैलं नैव तोयेन लिप्यते।
तथा शरीरमध्येपि न मलैर्लिप्यते पुमान्॥ २१७॥

अर्थ— जिस प्रकार पानीमें पडा हुआ तेल पानीसे कभी लिप्त नहीं होता उसी प्रकार मलिन शरीरमें रहता हुआ भी यह आत्मा शरीरकी मलिनतासे कभी मलिन नहीं होता।

भावार्थ—पानीमें पडी हुई तेलकी बूंद अलग ही रहती है। उसपर पानीका कुछ असर नहीं होता। उसी प्रकार आत्मापर शरीरका कुछ असर नहीं होता। शरीरकी मलिनतासे आत्मा मलिन नहीं हो जाता। मलिन शरीरमें रहता हुआ भी वह शुद्ध ही रहता है। इसलिये ऐसे शुद्ध आत्माका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

आगे उदाहरण देकर आत्माको शरीरसे भिन्न करनेका उपाय बतलाते हैं।

दध्नः सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरतः।
भिन्नो विधीयते नूनं भेदविद्याविशारदैः॥ २१८॥

अर्थ—जिस प्रकार दहीको विलोकर उसमेंसे घी अलग निकाल लेते हैं उसी प्रकार जो योगी आत्मा और शरीको भिन्न भिन्न समझनेमें चतुर हैं वे ध्यानके द्वारा इस शरीरसे शुद्ध आत्माको सर्वथा भिन्न कर लेते हैं।

भावार्थ—जब तक यह ज्ञान नहीं होता कि इस दहीमें घी है और वह अलग निकाला जा सकता है तब तक उसको अलग निकालनेके

लिये कोई उपाय भी नहीं करता। जब लोगोंको यह मालूम हो जाता है कि इसमें घी है तब लोग उसका मंथन कर उसमेंसे घीको अलग निकाल लेते हैं। इसी प्रकार जब तक आत्मा और शरीरमें भेदभाव मालूम नहीं होता; मिथ्यात्व कर्मका उदय इस भेद भावको नहीं होने देता तब तक कोई भी पुरुष इसको अलग करनेका उपाय नहीं करता। मिथ्यात्व कर्मके शांत होनेसे जब आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्रगट हो जाती है तभी वह योगी, भगवान् अरहंत देवके ध्यानके द्वारा अथवा अपने शुद्ध आत्माके ध्यानके द्वारा मंथन कर अपने शुद्ध आत्माको शरीरसे अलग कर लेता है।

ध्यानामृतान्नतृप्तानां मैत्रीरामामुपेयुपाम्।
तत्रैव रमते स्वांतं तत्त्वविद्यारसार्थिनाम्॥ २१९॥

अर्थ—जो मुनि ध्यानरूपी अमृतके भोजनसे तृप्त हो रहे हैं जो समस्त जीवोंमें मैत्री रखनेकी भावना रूपी स्त्रीको प्राप्त करना चाहते हैं और आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुए आनंदरसको पीना चाहते हैं ऐसे योगियोंका मन उसी शुद्ध आत्मामें जाकर लीन होता है।

भावार्थ—योगी लोग सदा ध्यानसे ही तृप्त होते हैं। विना आत्मध्यान किये उन्हे आनंद और सुख मिलता ही नहीं। वे योगी सब जीवोंपर क्षमा धारण करते हैं। किसी भी प्राणीको किसी प्रकारका कोई दुःख न हो ऐसी भावना उनकी सदा विद्यमान रहती है। तथा वे आत्मज्ञानसे उत्पन्न होने वाले अपूर्व आनंदरस पीनेकी सदा इच्छा किया करते हैं। इसीलिये उनका मन सदा उसी शुद्ध आत्मामें लगा रहता है। अतएव ध्यान करनेकी इच्छा करने वालोंको सदा इन भावनाओंका ही चिंतवन करते रहना चाहिये।

आगे ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं।

प्रातः प्रातः समुत्थाय तन्निस्थं समयव्रती।
ध्यानाभ्यामरतो भूत्वा भवभावं व्यपोहते॥ २२०॥

अर्थ—सामायिक करनेवाला व्रती पुरुष प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इस प्रकार जो ध्यानके अभ्यास करनेमें लीन होता है वह अपने जन्म मरण रूप संसारको बहुत शीघ्र नष्ट कर देता है।

भावार्थ—सामायिक प्रतिदिन करना चाहिये और प्रातःकाल उठते ही करना चाहिये। तथा उस सामायिकमें भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान करनेवाला पुरुष बहुत ही शीघ्र जन्ममरणसे छूट कर मुक्त हो जाता है।

आगे सामायिकके बादकी क्रिया बतलाते हैं।

सूर्योदये पुनः स्नात्वा त्रिधा पावित्रसंस्थितः।
पुष्पादिभिः स्वयं देवं समुपासीत सर्वदा॥ २२१॥

अर्थ— तदनंतर सूर्यके उदय होनेपर स्नान करना चाहिये और फिर मन, वचन, कायसे शुद्ध होकर पुष्पादि द्रव्योंसे प्रतिदिन स्वयं भगवान अर्हंत देवकी पूजा करनी चाहिये।

भावार्थ— सूर्योदयसे पहिले सामायिक कर लेना चाहिये और फिर सूर्योदयके बाद स्नान कर पूजन करना चाहिये।

तीर्थेशासन्निधानेपि प्रतिमा धर्महेतवे।
वैनतेयस्य मुद्रापि विषं हन्ति न संशयः॥ २२२॥

अर्थ— यदि उस समय तीर्थंकर परम देव स्वयं विद्यमान हों तो उनकी पूजा करनी चाहिये। यदि उनका संयोग न हो तो फिर उनकी प्रतिमाका पूजन करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार गरुडकी मुद्रा भी निःसंदेह विषको दूर कर देती है उसी प्रकार भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमासे भी धर्मकी ही वृद्धि होती है।

भावार्थ— कुछ लोग कहते हैं कि भगवान अरहंत देवकी पूजा तो करनी चाहिये, परंतु उनकी प्रतिमाकी पूजासे कोई लाभ नहीं होता। ऐसे लोगोंके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि जिस प्रकार गरुडसे सर्पका विष दूर होता है, उसी प्रकार गरुडकी मुद्रासे भी सर्पका विष दूर हो जाता

है। ठीक इसी प्रकार जैसे भगवान् अरहंत देवके पूजनसे धर्मकी वृद्धि होती है; पुण्यका बंध होता है उसी प्रकार अर्हंत देवकी प्रतिमाके पूजनसे भी वैसी ही धर्मकी वृद्धि होती है और वैसे ही पुण्यका बंध होता है। इसलिये सूर्योदयके बाद स्नान कर भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमाका पूजन अवश्य करना चाहिये।

आगे पूजा करनेकेलिये शुद्धताका वर्णन करते हैं।

मध्यशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्यात्तदुपासने।
पूर्वा स्यात् स्वान्तनैर्मल्यात्परा स्नानाद्यथाविधि ॥२२३॥

अर्थ—भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनेके लिये अंतरंग शुद्धि और बहिरंग शुद्धि दोनों प्रकारकी शुद्धि कर लेनी चाहिये। इनमेंसे मनके बुरे भावोंको छोडकर निर्मल करना अंतरंग शुद्धि है और विधि-पूर्वक स्नान करना बहिरंग शुद्धि कहलाती है।

आगे इन्हीं शुद्धियोंको बतलाते हैं।

स्नात्वा देवं स्पृशेन्नित्यं ब्रह्मव्रतविलोपने॥
स्नानाद्विना सदारस्य निष्फलो दैवतो विधिः ॥२२४॥

अर्थ—गृहस्थियोंको सदा स्नान करके ही भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमाका स्पर्श करना चाहिये। इसका कारण यह है कि गृहस्थोंका ब्रह्मचर्य अखंड नहीं रहता। उसका खंडन होता ही रहता है। स्त्री सहित रहनेवाले गृहस्थोंको विना स्नान किये अरहंत देवकी पूजा आराधना करना सब व्यर्थ है।

भावार्थ— गृहस्थोंको स्नान करके ही देवपूजन करना चाहिये। विना स्नान किये कभी देवपूजन नहीं करना चाहिये।

आगे संयमियोंकी शुद्धि बतलाते हैं।

ब्रह्मव्रतोपपन्नस्य सर्वारम्भवहिर्मतेः।
तोयस्नानं विना शुद्धिर्मन्त्रशुद्धो हि संयमी ॥ २२५ ॥

अर्थ—जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रतको पालन करते हैं और जिन्होंने

समस्त आरंभोंका त्याग कर दिया है ऐसे संयमियोंको विना जलस्नानके भी शुद्धि हो जाती है। क्योंकि संयमी पुरुष सदा मंत्रसे शुद्ध ही रहते हैं।

भावार्थ—स्नानके कितने ही भेद हैं; उनमें मुख्य दो भेद हैं। मंत्र स्नान और जलस्नान। गृहस्थोंकी शुद्धि विना जलस्नानके होती ही नहीं; परंतु संयमियोंकी शुद्धि, आरंभत्यागी ब्रह्मचारियोंकी शुद्धि केवल मंत्रसे ही हो जाती है। उनके लिये बाह्य शुद्धि अपने अपने किये हुए दोषोंके अनुसार है। जब तक निर्मलता न आ जाय तब तक शुद्धि अवश्य करते जाना चाहिये।

आगे देवपूजनके लिये कैसी शुद्धता होनी चाहिये सो कहते हैं।

मौनसंयमसम्पन्नैर्देवोपास्तिर्विधीयताम्।
दन्तधावनशुद्धास्यैर्धौतवस्त्रपवित्रितैः॥ २२६॥

अर्थ—शौचादिकसे निवृत्त होकर दातौन करना चाहिये। दातौन करके मुखकी शुद्धि करनी चाहिये। फिर स्नान कर धुले हुए पवित्र वस्त्र पहिन कर मौन व्रत और संयम दोनोंको धारण कर भगवान् अरहंत देवकी पूजा उपासना करनी चाहिये।

भावार्थ—मुखशुद्धि शरीरकी शुद्धिके साथ है। मुखशुद्धि करनेसे किसी व्रतमें अंतर नहीं पडता। क्योंकि उसमें सिवाय कुल्ला कर मुखको शुद्ध कर लेनेके और कुछ अभिप्राय नहीं रहता। जिस प्रकार शरीरपर पानी डालकर स्नान कर लेनेमें व्रतका भंग नहीं होता इसी प्रकार दातौन कर मुख शुद्धि कर लेनेमें भी किसी व्रतका भंग नहीं होता। आचार्यवर्य श्री समंतभद्र स्वामीने अपने रत्नकरंड श्रावकाचारमें उपवासके दिन स्नान करनेका भी निषेध किया है। परंतु पूजा करनेकेलिये उपवासके उस दिन भी स्नान करना आवश्यक बताया है क्योंकि विना स्नानके पूजा हो नहीं सकती। तथा मुखशुद्धि स्नानके साथ है। स्नान करनेके पहले मुखशुद्धि अवश्य कर लेना चाहिये।

फिर स्नान कर धुले हुए पवित्र वस्त्र पहनना चाहिये। पूजनमें धोती दुपट्टा ये दो ही वस्त्र उत्तम गिने जाते हैं। पूजन करते समय मौन धारण करना चाहिये। मौन धारण करनेसे अभिप्राय गृहस्थ संबंधी बात चीत करनेका निषेध हैं। यदि पूजा पाठ पढने वा मंत्र बोलनेका काम पडे तो उसे वह काम कर लेना चाहिये। क्योंकि वह भी पूजाका ही अंग है। इसी प्रकार पूजा करते समय संयम धारण कर लेना चाहिये। इंद्रियोंके विषयोंका त्याग कर देना चाहिये। और जीवोंकी रक्षाका ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार अंतरंग बहिरंग शुद्धि कर भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनी चाहिये।

आगे प्रतिमा स्थापनके लिये कहते हैं।

सिद्धादीनां शिवस्थानां तथा रत्नत्रयस्य वा।
नामादिभेदतो न्यासो विधीयेत यथाविधि ॥ २२७ ॥

अर्थ— नाम स्थापना आदिके भेदसे विधिपूर्वक मोक्षमें रहनेवाले सिद्धोंकी स्थापना करनी चाहिये। तथा इसी तरह रत्नत्रय आदिकी भी स्थापना करनी चाहिये।

भावार्थ—यहां स्थापनाका अर्थ आव्हान स्थापन नहीं है किंतु नाम स्थापना आदि निक्षेप है। निक्षेप प्रत्येक पदार्थका प्रत्येक पदार्थमें किया जा सकता है। यहांपर पूजा का प्रकरण है। इसलिये अरहंत सिद्ध रत्नत्रय धर्म आदि जो जो पूज्य हैं उन सबका निक्षेप करलेना चाहिये।

आगे उसी निक्षेपको विशेष रीतिसे बतलाते हैं।

तन्नामस्थापनाद्रव्यभावादिति विभेदतः।
रत्नधातुशिलालोहलेपादौ न्याससम्भवः ॥ २२८ ॥

अर्थ—निक्षेपके चार भेद हैं; नाम स्थापना द्रव्य भाव। विना गुणोंके ही केवल व्यवहार चलानेके लिये नाम रखलेना नाम निक्षेप है। जैसे किसी भिखारीका नाम भी बादशाह रख लेना। किसी मूर्तिमें

अथवा अन्य किसी पदार्थमें ' यह वही है ' ऐसी कल्पना कर संकल्प करलेना स्थापना निक्षेप है। जैसे श्री पार्श्वनाथ की मूर्तिमें ये वही पार्श्वनाथ हैं जो समवसरण में विराजमान थे। भूत वा भविष्यतको वर्तमानमें कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे राजपुत्रको राजा कहना या जो पहले राजा था, अब नहीं है उसको भी राजा कहना। जो वर्तमानमें जैसे हो उसे वैसा ही कहना भावनिक्षेप है। जैसे राजाको ही राजा कहना। यह निक्षेप किसी रत्नमें किया जा सकता है; धातु, पाषाण; लोहमें किया जा सकता है और लेप आदिमें भी किया जा सकता है। यद्यपि निक्षेप चार प्रकारका है तथापि यहांपर मुख्य अभिप्राय स्थापना निक्षेप से है। स्थापना निक्षेप रत्न, धातु, पाषाण आदि पदार्थोंमें करना चाहिये।

देवतांतररूपेषु नैव न्यासविधिर्मतः।
विवाहिता पुनर्बाला नैवान्येन विवाह्यते ॥ २२९ ॥

अर्थ——जिस प्रकार विवाहित स्त्रीके साथ फिर कोई विवाह नही करता उसी प्रकार जिसमें अन्य देवताका निक्षेप हो चुका है उसमें फिर निक्षेप नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—जिस पाषाणमें वा जिस जिस धातुमें अथवा जिस मूर्तिमें किसी अन्य देवताका निक्षेप हो उसमें फिर किसीका भी निक्षेप नहीं करना चाहिये। उसमें फिर दुवारा निक्षेप करना स्त्रियोंके पुनर्विवाहके समान निषिद्ध है।

आगे संयमी और योगियोंके लिये निक्षेपकी विधि कहते हैं।

ये तु ध्यानरताः संतः सावद्याद्विरताः सदा।
व्योम्नि वा हृदि वा न्यासस्तैरत्र विधीयते ॥ २३० ॥

अर्थ—जो योगी ध्यानमें लीन हैं और समस्त पापकर्मोंसे रहित हैं वे आकाशमें भी भगवान् अरहंत देवका निक्षेप कर पूजा कर सकते हैं अथवा अपने हृदयमें भी स्थापन कर पूजा कर सकते हैं।

भावार्थ—गृहस्थ लोगोंको तो तदाकार प्रतिमामें भगवान् अरहंत

देवकी स्थापना कर पूजा करनी चाहिये। परंतु मुनियोंके लिये यह नियम नहीं है। मुनि लोग भावपूजा करते हैं। उनके परिणाम भी निश्चल होते हैं और वे अमूर्त पदार्थमें भी निश्चल रह सकते हैं। इसीलिये वे मुनिराज आकाश वा हृदयमें भी भगवान् अरहंत देवको विराजमान कर उनकी स्तुति ध्यान वा भावपूजा किया करते हैं।

आगे शुद्ध आत्माका ध्यान करनेवाले योगियोंके लिये निक्षेप करनेकी विधि बतलाते हैं।

शुद्धाध्यात्मप्रवृत्तीनां शुद्धध्यानमुपेयुषाम् ।
सतामात्मैव नित्योयं सर्वन्यासमयो भवेत् ॥ २३१ ॥

अर्थ—जो मुनिराज निश्चय ध्यान धारण करनेमें लीन हो रहे हैं और जिनका मन सदा अपने शुद्ध आत्मामें ही लगा रहता ऐसे सज्जन मुनिराजोंके लिये यह नित्य आत्मा ही समस्त निक्षेपमय होजाता है।

भावार्थ—योगी मुनिराजोंकी प्रवृत्ति सदा शुद्ध आत्मामें ही बनी रहती है। शुद्ध आत्माके सिवाय उनकी प्रवृत्ति अन्यत्र कहीं नहीं होती। इसलिये यदि वे निक्षेप भी करते हैं तो उसी अपने शुद्ध आत्मामें करते हैं। अन्य किसी पदार्थसे वे सम्बन्ध नहीं रखते।

आगे जिनप्रतिमा भी न हो तो किस प्रकार पूजा करनी चाहिये सो कहते हैं।

पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा या नित्याः प्रतिमाः स्थिताः ॥
तास्वेव मानसं स्थाप्यमभावे प्रतिमाविधेः ॥ २३२ ॥

अर्थ यदि जिनप्रतिमाका संयोग न मिले तो फिर पूर्व दिशामें अथवा उत्तर दिशामें जो अकृत्रिम प्रतिमाएं विराजमान हैं उन्हींमें अपना मन लगा कर भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनी चाहियें।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवकी पूजा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके की जाती है अथवा पूर्व दिशाकी ओर मुख करके की जाती है। श्री जिनप्रतिमा पूर्वदिशाकी ओर मुख करके विराजमान करना चाहिये

और फिर स्वयं उत्तर दिशाकी ओर मुख करके उनकी पूजा करनी चाहिये। यदि प्रतिमा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके विराजमान हों तो फिर स्वयं पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी चाहिये। यदि श्री जिन प्रतिमा न हों तो फिर इन्हीं दोनों दिशाओंमेंसे किसी एक दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी चाहिये और सामनेकी दिशामें जो अकृत्रिम प्रतिमाएं विराजमान हैं उनमें अपना मन लगाना चाहिये। यदि उत्तर दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी हो तो सामने कुलाचल पर्वतों पर, सुमेरु पर्वतपर, जंबू वृक्षपर, गजदंतोंपर जो अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं और उनमें जो प्रतिमाएं विराजमान हैं उनमें अपना मन लगाना चाहिये। यदि पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी हो तो धातकी द्वीप वा पुष्कर द्वीपके मेरु पर्वतपर, गजदंतोंपर, कुलाचल पर्वतोंपर जो अकृत्रिम चैत्यालय हैं और उनमें अकृत्रिम प्रतिमाएं विराजमान हैं उनमें अपना मन लगाना चाहिये। इस प्रकार श्री जिन प्रतिमाके अभावमें अकृत्रिम चैत्यालयोंमें विराजमान जिन प्रतिमाओंकी पूजा करनी चाहिये।

आगे अकृत्रिम चैत्यालयोंमें विराजमान जिन प्रतिमाओंकी पूजा करनेके लिये कहते हैं।

मंदरादिषु शैलेषु प्रतिमा याः सनातनाः।
तासामभिप्रवृत्तेन विधेयो देवनो विधिः॥ २३३॥

अर्थ— मेरु पर्वत, गजदंत पर्वत, कुलाचल पर्वत, वक्षार पर्वत, वैताढ्य पर्वत आदि जहां जहां अकृत्रिम प्रतिमाएं सदासे विराजमान हैं उनकी पूजा कर देवपूजाका कार्य संपादन करना चाहिये।

भावार्थ— मध्य लोकमें चारसौ अट्ठावन अकृत्रिम जिन भवन हैं, उनकी पूजा कर परिणामोंकी विशुद्धि करनी चाहिये।

आगे पूजाकी सामग्री बतलाते हैं।

सलिलैः सौरसैस्तैस्तैस्तन्दुलैः पुष्पदामभिः।
नैवेद्यैर्दीपधूपैस्तु फलैराराधयेत्प्रभुम्॥ २३४॥

अर्थ—जल चंदन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप और फल इन आठ द्रव्योंसे भगवान्‌की पूजा करना चाहिये।

भावार्थ—संसारमें जो जो उत्तम पदार्थ हैं उन सबसे भगवान्‌की पूजा करना चाहिये। ये ऊपर लिखे आठ द्रव्य सर्वोत्तम पदार्थ हैं इसी लिये इनसे पूजा करनी चाहिये। इनके सिवाय गीत नृत्य वादित्र आदिसे भी भगवान्‌की आराधना करनी चाहिये।

आगे और किन किनकी पूजा करनी चाहिये सो कहते हैं।

सर्वसंसारसद्भावभावातीतपथस्थितान्।
सिद्धान् शुद्धस्वरूपस्थान् पुष्पादिभिरुपास्महे ॥ २३५ ॥

अर्थ— जो समस्त संसारमें होनेवाले भावोंसे रहित होकर एक निराले ही मार्गमें विराजमान हैं। और सदा अपने शुद्ध स्वरूपमें विराजमान रहते हैं, ऐसे सिद्ध भगवान्‌की पूजा पुष्प आदि आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये।

भावार्थ— संसारमें पूज्य पुरुष पंच परमेष्ठी हैं। उनमेंसे सबसे पहिले सिद्ध भगवान्‌की पूजा करनेकेलिये कहते हैं। भगवान् सिद्ध परमेष्ठी संसारके समस्त भावोंसे रहित हैं। संसारी जीवोंके भाव कर्मोंके उदयके अनुसार होते हैं और सिद्धोंके भाव शुद्ध आत्माके शुद्ध परिणमनके अनुसार होते हैं। संसारी आत्माओंका स्वरूप अशुद्ध है। कर्मोंसे ढका हुआ है और क्रोधादि कषायोंसे लिप्त है। परंतु सिद्धोंका स्वरूप न तो कर्मोंसे ढका है और न कषायोंसे लिप्त है। उनका स्वरूप अत्यंत निर्मल और शुद्ध है। ऐसे सिद्ध परमेष्ठीकी पूजा अवश्य करनी चाहिये।

आगे अरहंतदेवकी पूजा करनेकेलिये कहते हैं।

सर्वसत्वदयामूर्तीन् धर्मतीर्थविधायिनः।
सर्वानप्यर्हतो देवान् पुष्पादिभिरुपास्महे ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो समस्त जीवोंपर होनेवाली स्वाभाविक दयाकी मूर्ति हैं और जो धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं ऐसे समस्त अरहंत देवोंकी पूजा पुष्पादिक आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये।

भावार्थ—संसारमें समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाले, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करनेवाले और भव्य जीवोंका सबसे अधिक उपकार करनेवाले भगवान् अरहंत देव हैं। उनक इतना प्रभाव है कि हिरण सिंह आदि जातिविरोधी जीव भी अपना वैर विरोध सब छोड देते हैं और एक जगह बैठकर धर्मोपदेश सुनते हैं। मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति भगवान् अरहंत देवसे ही होती है। वे ही भगवान् सब जगह विहार कर धर्मोपदेश दिया करते हैं। इसलिये सबसे प्रथम पूज्य भगवान् अरहंत देव ही हैं। अतएव जल चंदन पुष्प आदि आठों द्रव्योंसे भगवान् अरहंत देवकी पूजा अवश्य करनी चाहिये।

आगे आचार्य परमेष्ठी की पूजा करनेकेलिये कहते हैं।

प्रवर्तयन्ति निःशेषं शासनं संयमेषु ये।
सूरीन् रत्नत्रयोपेतान् पुष्पादिभिरुपास्महे ॥ २३७ ॥

अर्थ—भगवान् आचार्य परमेष्ठी अपने समस्त संघकी प्रवृत्ति संयममें ही कराते रहते हैं और स्वयं रत्नत्रयसे सदा पवित्र रहते हैं। इसलिये ऐसे आचार्य परमेष्ठीकी पूजा जल चंदन आदि आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी सब संघके नायक हैं, सबको दीक्षा देते हैं, दोष लगनेपर प्रायश्चित्त देते हैं और सबके संयमकी संभाल रखते हैं। इसके सिवाय वे अपने छत्तीस गुणोंको, अट्ठाईस मूल गुणोंको भी पालन करते हैं। तथा उत्तर गुणोंको भी पालन करते हैं। वे रत्नत्रयके निधान होते हैं, पंचाचारका पालन करते हैं और सबसे पालन कराते हैं इसलिये उनकी पूजा अवश्य करनी चाहिये।

आगे उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा करनेके लिये कहते हैं।

शिष्येभ्यः सर्वसूत्रार्थं सर्वथाप्यामनन्ति ये।
संयमस्थानुपाध्यायान् पुष्पादिभिरुपास्महे ॥ २३८ ॥

अर्थ—जो उपाध्याय अपने शिष्योंके लिये समस्त सूत्रोंका अर्थ

बतलाते हैं। उसमें किसी प्रकारकी कमी नहीं करते। तथा अपने संयमको भी पूर्ण रीतिसे पालन करते हैं। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा, जल आदि आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थ—उपाध्याय अपने अट्ठाईस मूल गुण और उत्तर गुणोंका पालन करते हुए भी ग्यारह अंग चौदह पूर्वके पाठी होते हैं। ग्यारह अंग चौदह पूर्वका ज्ञान होना ही उनके पच्चीस गुण कहलाते हैं। वे पढने योग्य समस्त मुनियोंको पढाते हैं। पढानेमें बतानेमें वे कभी कमी नहीं करते, कभी कुछ नहीं छिपाते। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा भी पुष्पादिक आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

आगे साधु परमेष्ठीकी पूजा करनेकेलिये कहते हैं।

तीव्रतीव्रतपोभारधौरेयत्वमुपाश्रितान्।
साधून् दर्शनबोधस्थान् पुष्पादिभिरुपास्महे ॥ २३९ ॥

अर्थ—जो मुनिराज अत्यंत कठिन और घोर तपश्चरणोंको मुख्यतासे धारण करते हैं और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानको शुद्ध रखते हैं। ऐसे साधुओं की पूजा जल चंदन आदि आठों द्रव्यों से करनी चाहिये।

भावार्थ—मुनिराज अट्ठाईस मूलगुणोंको पालन करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणोंको पालन करते हैं। इनके सिवाय वे अनेक प्रकारके घोर तपश्चरण करते हैं, महिनोंका उपवास करते हैं, अनेक प्रकारके आसनोंसे ध्यान करते हैं और सदा सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में ही लीन रहते हैं। ऐसे मुनिराजोंकी पूजा आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये।

यन्मूलमात्मतत्त्वस्य यन्मूलं शिवसम्पदः।
रत्नत्रयमनौपम्यं पुष्पादिभिरुपास्महे ॥ २४० ॥

अर्थ—जो रत्नत्रय आत्मतत्त्वका मूल है, मोक्षरूपी संपदाके प्राप्त होनेका भी मूल है और जिसकी समस्त संसारमें कोई उपमा नहीं ऐसे रत्नत्रयकी पूजा भी जलादि आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये।

भावार्थ—रत्नत्रय सबसे अधिक पूज्य हैं क्योंकि पंच परमेष्ठी भी

रत्नत्रयगुणके प्रगट होनेसे ही पूज्य होते हैं। संसारमें इसके समान और कोई गुण नहीं है। मोक्ष प्राप्त होनेका यह मूल कारण है और आत्मतत्त्व की प्राप्तिका भी यही मूल कारण है। इसलिये ऐसे रत्नत्रय की पूजा जलादिक आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

इस प्रकार प्रबोधसार नामक ग्रंथमें अणुव्रत गुणव्रत खाना- यिकका निरूपण करनेवाला यह दूसरा अध्याय चावली (आगरा) निवासी लालाराम जैन शास्त्री कृत हिंदी भाषामें

समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय।

आगे प्रोषधोपवास व्रतको कहते हैं।

सिद्धान्तसम्मतं पर्व प्रोषधं तं विदुर्बुधाः।
तत्र तत्रोपवासादिर्विधेयो विधिवद्विधिः॥ १ ॥

अर्थ— विद्वान् लोग सिद्धांत शास्त्रोंमें कहे हुए समस्त पर्वोंको प्रोषध कहते हैं। उन पर्वके दिनोंमें विधिपूर्वक उपवास आदि करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

भावार्थ— प्रत्येक महिनेमें दो अष्टमी दो चतुर्दशी चार तो ये पर्वके दिन हैं। इनके सिवाय अष्टान्हिका, दशलक्षण आदि और भी पर्वके दिन शास्त्रोंमें कहे हुए हैं। इन सब पर्वके दिनोंमें विधि पूर्वक प्रोषधोपवास करना अथवा उपवास अनुपवास प्रोषध आदि करना चाहिये। विधिपूर्वक सोलह पहर तक आहारादिका त्याग कर देना प्रोषधोपवास है। जिसे अष्टमीको प्रोषधोपवास करना है वह सप्तमीको एकाशन कर अष्टमीको उपवास करेगा और फिर नौमीको एकाशन करेगा तब वह

प्रोषधोपवास कहलावेगा । यदि प्रोषधोपवास करनेकी शक्ति न हो तो उपवास ही करना चाहिये । उपवास बारह पहरका होता है । इसमें सप्तमीके सूर्य अस्त होनेसे लेकर नौमीके सूर्योदय तक उपवास करना चाहिये । जो शक्तिहीन पुरुप इस उपवासमें गर्म जल ग्रहण कर लेते हैं उसे अनुपवास कहते हैं। एक वार भोजन पान करनेको प्रोषध कहते हैं। यदि अनुपवास भी न हो सकें तो प्रोषध वा एकाशन करना चाहिये । पवित्र और पूज्य दिनोंको पर्व कहते हैं। इन दिनोंमें यथासाध्य पापकार्योंका त्याग अवश्य करना चाहिये ।

आगे पर्वके दिनोंमें करने योग्य कर्तव्य कहते हैं ।

संपर्यां नियमं दानं शीलव्रतप्रभावनाम् ।
व्रतविद्यातपोवृत्तश्रुतादीन् तत्र बृंहयेत् ॥ २ ॥

अर्थ—उन पर्वके दिनोंमें भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनी चाहिये, यम नियम धारण करना चाहिये, दान देना चाहिये, गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि शीलव्रतोंको धारण करना चाहिये, मोक्ष मार्गकी प्रभावना करनी चाहिये, पाचो अणुव्रतोंको धारण करना चाहिये, आत्म—विद्याका अभ्यास करना चाहिये, तपश्चरण धारण करना चाहिये, चारित्र धारण करना चाहिये और शास्त्रज्ञानको बढाना चाहिये ।

भावार्थ—पर्वके दिनोंमे समस्त पापोंका त्याग कर पूजा जप तप ध्यान आदि धार्मिक कार्य करते रहना चाहिये, धर्मशास्त्रोंका पठन पाठन करना चाहिये और अपनी शक्तिके अनुसार धर्मोपदेश देना चाहिये अथवा सुनना चाहिये ।

आगे प्रोषधोपवासके दिन न करने योग्य कार्योंका त्याग करनेकेलिये कहते हैं ।

स्नानं नस्यं वपुर्भूषां रामामाल्यविलेपनम् ।
प्रोषधस्थो न सेवेत सर्वं सावद्यसंश्रयम् ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेवालोंको स्नान नहीं करना चाहिये, हु-

लास तंबाखू आदि कुछ भी नहीं सूंघना चाहिये, शरीरको वस्त्र आभूषणोंसे सुसज्जित नहीं करना चाहिये, स्त्रीसेवनका त्याग कर देना चाहिये, माला नहीं पहननी चाहिये, शरीरपर सुगंधित उवटन वा लेप नहीं लगाना चाहिये तथा और भी जो जो पापकार्य हैं जिनके करनेसे कुछ भी पाप का आस्रव होता हो ऐसे समस्त कार्योंका त्याग करदेना चाहिये

भावार्थ—प्रोषधोपवास करनेवालोंको उस पर्वके दिन राग रंग वढानेवाले आमोद प्रमोद और पापकार्य समस्त छोड देने चाहिये।

आगे प्रोषधोपवासके दिन क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

स्थाने वने श्मशाने वा देवस्थानाद्रिभूमिषु ।
धर्मध्यानाय संवासः प्रोषधस्थोपवासिनाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेवालोंको उस दिन किसी वनमें श्मशानमें अथवा किसी जिनालयमें वा पर्वत आदि अन्य किसी एकांत स्थानमें धर्मध्यान करनेकेलिये निवास करना चाहिये।

भावार्थ—प्रोषधोपवासके दिन किसी एकांत स्थानमें बैठकर धर्म ध्यान करना चाहिये। यदि शक्ति हो तो श्मशानमें वा वनमें रहकर धर्मध्यान करना चाहिये। यदि श्मशानमें वा वनमें रहनेकी शक्ति न हो तो फिर किसी जिनालयमें वा चैत्यालयमें बैठकर धर्मध्यान करना चाहिये। उस दिन किसी धर्मशालामें रहकर भी धर्मध्यान कर सकता है। अथवा यदि घरमें कोई एकांत स्थान हो तो वहां भी रहकर धर्मध्यान कर सकता है। अभिप्राय यह है कि धर्मध्यानमें जहां किसी प्रकारका उपद्रव न हो सके ऐसे स्थानमें बैठकर धर्मध्यान करना चाहिये।

आगे आरंभत्यागके लिये कहते हैं।

पुंसः श्रितोपवासस्य नैवारम्भविधिर्मतः ।
साध्यसिद्धिर्विधेर्लाभो न देहायासमात्रतः ॥ ५ ॥

अर्थ—उपवास करनेवाले पुरुषोंको उस दिन किसी प्रकारका आरंभ नहीं करना चाहिये। क्योंकि साध्यकी सिद्धि विधिसे होती है; शरीरके परिश्रम करने मात्रसे कुछ लाभ नहीं होता।

भावार्थ—उपवास करना आरंभ करते हुए केवल शरीरको कष्ट पहुंचाना है। क्योंकि समस्त पापों का त्याग करने के लिये ही उपवास किया जाता है। उपवास करनेका यह मुख्य ध्येय है। यदि उपवास करके फिर भी पापोंका आरंभ किया तो फिर उसका उपवास करना व्यर्थ है केवल शरीर को कष्ट पहुंचाना है। इसलिये उपवासके दिन कभी किसी प्रकारका आरंभ नहीं करना चाहिये।

आगे उपवासके दिन आरंभ करना समस्त उपवासको नाश करनेवाला है ऐसा दिखलाते हैं।

सर्वोपवाससंहारं प्रारंभो विदधात्यलम्।
महादोषो व्रतस्थानां प्रारंभविधिवर्तिनाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—उपवास के दिन आरंभ करनेसे समस्त उपवासों का नाश हो जाता है। आरंभ करने वाले व्रती लोगों को महा दोष लगता है।

भावार्थ—आरंभका त्याग करना ही उपवास है। यदि उपवास करके भी आरंभ किया तो फिर वह कभी उपवास कहला ही नहीं सकता। जो लोग व्रत धारण करते हैं उन व्रतोंमें उपवास आदि करते हैं और फिर आरंभ भी करते हैं उन्हे महा दोष लगता है। जिस प्रकार गृहस्थ, गृहस्थ संबंधी जो कार्य घरमें करता है उन कार्योंको वह जिनालयमें वा तीर्थ क्षेत्रों पर नहीं कर सकता। यदि वह गृहस्थ उन कार्यों को जिनालय वा तीर्थ क्षेत्रों पर करे तो उसे वज्र पाप लगता है। उसी प्रकार जो आरंभ प्रतिदिन किया जाता है वही आरंभ उपवासके दिन नहीं करना चाहिये। उपवास के दिन समस्त आरंभों का त्याग अवश्य करदेना चाहिये।

आगे उपवासकी आवश्यकता और लाभ दिखलाते हैं।

विशुद्धयेन्नान्तरात्मायं तपस्तीव्रविधिं विना।
न वन्हेरन्यदस्तीह हेममालिन्यशुद्धये ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णको शुद्ध करनेकेलिये अग्निके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार इस आत्माका अंतरंग शुद्ध कर-

नेकेलिये घोर तपश्चरण करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है।

भावार्थ—यह आत्मा कर्मोके संबंधसे मलिन हो रहा है। काम क्रोध मोह आदि विकार भी कर्मोके ही संबंधसे होते हैं। तथा कर्मोको नाश करनेवाला एक तपश्चरण ही है। विना तपश्चरणके कर्म और किसीसे नष्ट नहीं हो सकते। और विना कर्मोके नष्ट हुए आत्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकता। जैसे जैसे कर्म नष्ट होते जाते हैं वैसे ही वैसे आत्मा शुद्ध होता जाता है। उपवास करना भी एक तपश्चरण का बाह्य भेद है। यों तो तपश्चरणका मुख्यतया पालन करना मुनियोंका कार्य है। परंतु उपवास नामका तपश्चरण ऐसा है जिसे गृहस्थ भी धारण कर सकते हैं। और उस तपश्चरणके द्वारा कर्मोकी निर्जरा कर आत्माको शुद्ध कर सकते हैं। इसलिये मोक्षसुख चाहनेवाले भव्य जीवोंको पर्वके दिनोंमें उपवास वा प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिये।

आगे इस प्रोषधोपवास की प्रशंसा दिखलाते हैं।

महाधन्यः स धन्यानां महात्मायं महात्मनाम्।
भवद्वयहितं सारं येन वृत्तं समाश्रितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यह प्रोषधोपवास नामका तपश्चरण दोनों लोकोंमें हित करनेवाला है। और समस्त संसारमें सारभृत है। ऐसा यह प्रोषधोपवास नामका तपश्चरण जिसने धारण करलिया वह धन्य पुरुषोंमें भी महाधन्य है और माहात्माओंमें भी महात्मा है।

भावार्थ—संसारमें चारित्र ही अत्यंत कठिन है और चारित्र ही सबसे अधिक पूज्य है। जो चारित्र धारण करता है वह सबसे अधिक धन्य है। वही पुरुष कर्मोको नाश कर महात्मा बन सकता है। इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार चारित्र अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे भोगोपभोग परिमाण व्रतको कहते हैं।

यमो निरवधिः सिद्धः सावधिर्नियमो मतः।
यथासामर्थ्यसंप्राप्त्या त्रिशुद्ध्या पालनं नयोः ॥ ९ ॥

अर्थ—विना किसी मर्यादाके जन्मभरके लिये त्याग करना यम है और कालकी मर्यादापूर्वक त्याग करना नियम है। भोगोपभोग परिमाण व्रतमें अपनी शक्तिके अनुसार मन वचन कायको शुद्ध कर यम नियम दोनोंका पालन करना चाहिये।

भावार्थ—मद्य मांस मधु पुष्प कंद मूल आदि बहुतसे ऐसे पदार्थ हैं जिनमें बहुतसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती है और अनंत स्थावरोंकी हिंसा होती है। ऐसे पदार्थोंको यमरूपसे त्याग करना चाहिये। अर्थात् ऐसे पदार्थोंको जन्मभर के लिये त्याग करदेना चाहिये। तथा ग्राह्य और भक्ष्य पदार्थोंको नियमरूपसे त्याग करना चाहिये।

आगे उसी नियमको दिखलाते हैं।

शयनासनयानादेर्भूषावस्त्रादियोपिताम्।
प्रमितिः प्रविधातव्या सर्वेषां धर्मवृद्धये॥ १० ॥

अर्थ—धर्मकी वृद्धि करनेकेलिये शयन, आसन, सवारी, आभूषण, वस्त्र, स्त्री आदि समस्त भोगोपभोग पदार्थोंका नियम करलेना चाहिये।

भावार्थ—जो पदार्थ वार वार भोगनेमें आवें उनको उपभोग कहते हैं। पलंग विछोना कुरसी गद्दा घोडागाडी मोटर कडे कंठी धोती दुपट्टा स्त्री आदि सब पदार्थ उपभोग कहलाते हैं। इन सब पदार्थोंको नियमित रूपसे सेवन करना चाहिये। मैं इन पदार्थोंको इतने दिनतक सेवन करूंगा, आगे छोड दूंगा। अथवा इन पदार्थोंको मैं इतने दिनके लिये छोडता हूं। इस प्रकार संकल्प कर लेना नियम कहलाता है। गृहस्थोंको ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेके लिये नियम अवश्य कर लेना चाहिये।

आगे भोगोंके त्याग करनेकेलिये कहते हैं।

स्नानाशनताम्बूलमाल्यधूपविलेपनं।
तथान्येषां पदार्थानामभिलाषः प्रमीयताम्॥ ११ ॥

अर्थ—स्नान, भोजन, पान, फूलमाल, धूप, उवटन आदि पदार्थ

भोग कहलाते हैं। इन सब पदार्थोंके सेवन करनेकी इच्छाको तथा और भी ऐसे ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेकी इच्छाको नियमित कर लेना चाहिये।

भावार्थ—जो पदार्थ एक बार काममें आवें—जिनका उपयोग दुबारा न किया जा सके ऐसे पदार्थोंको भोग कहते हैं। स्नान भोजन पान आदि सब पदार्थ भोग हैं। इन सब पदार्थोंके सेवन करनेका नियम कर लेना चाहिये। मैं दिनमें एकबार भोजन करूंगा, एक बार पान खाऊंगा या आज न खाऊंगा, आज दो बार पानी पीऊंगा। मैं महीनेमें एक बार ही उबटन करूंगा, एक या दो बार माला पहनूंगा। अथवा मैं इन सब पदार्थोंको इतने दिनकेलिये छोडता हूं। इतने दिन तक इन पदार्थोंका सेवन नहीं करूंगा। इस प्रकार उन पदार्थोंके सेवन करने का नियम कर लेना चाहिये। जो पदार्थ सर्वथा अग्राह्य और त्याज्य हैं उनका तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। और जो पदार्थ ग्राह्य तथा भक्ष्य हैं उनका यम नियम रूपसे त्याग करना चाहिये। इसीको भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं।

आगे इस भोगोपभोगपरिमाण व्रतकी प्रशंसा करते हैं।

स्यादित्थं नियता वृत्तिर्यस्य सर्वेषु वस्तुषु।
स सर्वासां श्रियामीशः सर्वविश्वेषु वर्तताम् ॥ १२ ॥

अर्थ— इस प्रकार जो पुरुष संसारके समस्त पदार्थोंमें अपनी वृत्तिको नियमित कर लेता है वह तीनों लोकोंमें समस्त लक्ष्मियोंका स्वामी होता है।

भावार्थ— इन पदार्थोंमें जितना जितना ममत्व बढता जाता है, इनके सेवन करनेकी जितनी इच्छा प्रबल होती है, उतना ही ये पदार्थ दूर भागते जाते हैं। तथा इन पदार्थोंका जितना त्याग किया जाता है, उतना ही ये पदार्थ दौडकर समीप आ जाते हैं। अतएव जो पुरुष इन सब पदार्थोंमें अपनी इच्छाको रोक लेता है—सबको यम नियम रूपसे

त्याग कर देता है उसे इंद्र चक्रवर्ती आदि उत्तमोत्तम पद और उनकी उत्तमोत्तम संपदाएं अवश्य प्राप्त होती हैं तथा परंपरासे मोक्षलक्ष्मी भी प्राप्त होती है। इस लिये भोगोपभोग परिमाण व्रत अवश्य धारण करना चाहिये। यह व्रत इंद्रियसंयमका साधन है। भोगोपभोग परिमाण करनेसे इंद्रियां मन सब वशमें हो जाते हैं। तथा अनंत जीवोंकी रक्षा होनेसे प्राणिसंयम भी पल जाता है। इस प्रकार इस व्रतके पालन करनेसे संयमका पालन बहुत अच्छी तरहसे होता है।

आगे दानका स्वरूप कहते हैं।

यथाद्रव्यं यथादेशं यथापात्रं यथापथम्।
यथाविधानसम्पत्त्या दानं देयं तदर्थिनाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—अपने द्रव्यके अनुसार, देशके अनुसार, पात्रके अनुसार, आगमके अनुसार और विधिपूर्वक दान देना चाहिये और वह दान उन्हींको देना चाहिये जिन्हें दान लेनेकी आवश्यकता है।

भावार्थ—दान विधिपूर्वक देना चाहिये। दानकी विधिमें कुछ भी अंतर नहीं करना चाहिये। मुनियोंको नवधा भक्ति पूर्वक सब अंतरायोंको छोडकर दान देना विधि कहलाती है। तथा वह विधि भी आगमके अनुसार होनी चाहिये। आगमके विरुद्ध कोई भी क्रिया शुभ नहीं कही जा सकती। तथा दान पात्रके अनुसार देना चाहिये। मुनियोंको ऐसा आहार देना चाहिये जो उनके तप और ध्यानमें सहायक हो। यदि किसी मुनिको कोई रोग हो तो उनके लिये औषधि भी देनी चाहिये। आवश्यकता मालूम हो तो शास्त्र पीछी आदि धर्मको बढाने वाले साधन देना चाहिये। मुनियोंको दान देनेके सिवाय और भी जहां जहां धर्मके कार्योंमें आवश्यकता प्रतीत हो वहां दान देना चाहिये। और वह अपने देशके अनुसार देना चाहिये। जिस देशमें जो अन्न काममें आता है वही अन्न उस देशमें पच सकता है। इसलिये ऐसा ही अन्न दानमें देना चाहिये। ऊपर लिखी बातोंके अनुकूल जैसा द्रव्य अपने यहां हो उसीमेंसे देना चाहिये।

आगे दानका लक्षण और उससे होनेवाला लाभ दिखलाते हैं ।

स्वात्मनः श्रेयसेन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।
यत्स्यात्स्वस्य परस्यापि हितं तद्दानमिष्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—दान देनेसे अपने आत्माको पुण्यकी प्राप्ति होती है और दान लेनेवालोंको रत्नत्रयकी वृद्धि होती है। सो ठीक ही है; क्योंकि दान वही कहलाता है जिससे अपना भी हित हो और दूसरों का भी हित हो।

भावार्थ—जिस दानके देनेमें न तो देने वालोंको पुण्य हो और न लेनेवालोंको आत्म धर्मकी वृद्धि हो वह दान कुदान कहलाता है। दान देनेका अभिप्राय ही आत्मधर्मकी वृद्धि करना है। तथा दानका लक्षण ही यह है कि जिससे दोनोंका हित हो। इसलिये जिस दानसे रत्नत्रयकी वृद्धि हो वही दान देना चाहिये।

आगे दानकी विशेषता दिखलाते हैं।

पात्रदातृविधिद्रव्यविशेषैस्तद्विशिष्यते ।
यथांबु तोयदैर्वान्तं स्थाने स्थाने विशिष्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बादलोंसे गिरा हुआ पानी स्थान स्थानके भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है उसी प्रकार पात्र दाता विधि और द्रव्यके भेदसे दानमें भी विशेषता हो जाती है।

भावार्थ—बादलोंमें पानी सब एकसा होता है परंतु वह जहां पड़ता है वहांकी पृथ्वीके अनुसार ही हो जाता है। इसी प्रकार दान देनेमें जैसा पात्र होगा वैसा ही उसका फल मिलेगा। पात्रोंमें यदि सर्वोत्तम तीर्थंकर आदि हों तो उस दान का फल सर्वोत्तम होगा। यदि ऋद्धिधारी मुनि हों वा आचार्य उपाध्याय हों तो उसका फल उनके अनुसार होगा। जैसे लेनेवाले पात्र होंगे, दानका फल वैसा ही मिलेगा। इसी प्रकार जैसा देनेवाला होगा वैसा ही उसका फल मिलेगा। दान देनेवाला यदि शुभ परिणामों वाला और दाताके सब गुणोंसे सुशोभित हो तो उसको सर्वोत्तम फल मिलेगा। यदि गुणोंमें कमी होगी तो फलमें भी कमी

हो जायगी । विधि भी सर्वोत्कृष्ट होगी तो फल अच्छा प्राप्त होगा। यदि विधिमें कमी होगी तो फलमें भी कमी अवश्य हो जायगी। इसी प्रकार यदि द्रव्य भी रत्नत्रयको बढानेवाला होगा तो उसका फल बहुत अच्छा होगा। यदि द्रव्य सुयोग्य नहीं होगा तो उसका फल भी वैसा ही होगा। इस लिये दाताको सदा अपने परिणाम अच्छे रखने चाहिये। विधिपूर्वक दान देना चाहिये और द्रव्य रत्नत्रयको बढानेवाला उत्तम रखना चाहिये। इन तीनोंकी उत्तमता होनेपर यदि उत्तम पात्रका संयोग हो जायगा तो सर्वोत्कृष्ट फल अवश्य प्राप्त होगा। इस लिये दाताको उत्तम परिणामोंसे दान देना चाहिये। विधिपूर्वक देना चाहिये। उत्तम पात्रको देना चाहिये। और रत्नत्रयको बढानेवाला द्रव्य देना चाहिये।

आगे दातार और पात्रको दिखलाते हैं।

वदान्यः सत्वसम्पन्नो दाता प्रीतः प्रशस्यते।
रत्नत्रयधरो धीरः पात्रं निःस्पृहताशयः ॥ १६ ॥

अर्थ— दाता वही कहलाता है जो दान देनेकी शक्ति रखता हो, उदार हो और पात्रमें जिसका अत्यंत अनुराग हो। तथा पात्र वह कहलाता है जो रत्नत्रयको धारण करनेवाला हो, धीर वीर हो और जिसका हृदय निस्पृह हो।

भावार्थ— यहांपर संक्षेपसे दाता और पात्र दोनोंके लक्षण बतलाये हैं। पात्रमें सबसे मुख्य गुण रत्नत्रयका होता है। क्योंकि उस रत्नत्रयकी वृद्धिके लिये ही दान किया जाता है। यदि रत्नत्रय न हो तो वह पात्र ही कहलाने योग्य नहीं है। रत्नत्रयके साथ साथ उस पात्रका हृदय इच्छारहित होना चाहिये। आहारमें जो मिल जाय, जैसा मिल जाय उसे इच्छा रहित होकर सब ले लेना चाहिये। इसके सिवाय उसे धीर होना चाहिये। यदि आहार न भी मिले तो व्याकुल नहीं होना चाहिये। दाता भी शक्तिशाली हो—दान देनेकी शक्ति रखता हो और

पात्रमें अनुराग रखता हो। विना अनुरागके वह भक्ति आदर सत्कार विधि कुछ नहीं कर सकता। इसलिये पात्रमें अनुरागका होना दाताका प्रधान गुण समझना चाहिये।

आगे दानके भेद बतलाते हैं।

निर्भयाहारयोर्दानमौषधश्रुतयोरपि।
सदा मनीषिभिर्देयं शुद्धधर्मप्रवर्तनम् ॥ १७ ॥

अर्थ—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान यह चार प्रकारका दान है। यह चारों प्रकारका दान शुद्ध धर्मकी प्रवृत्ति करनेवाला है। इसलिये बुद्धिमानोंको यह चारों प्रकारका दान सदा देते रहना चाहिये।

भावार्थ—चारों प्रकारके दानका हेतु शुद्ध धर्मकी प्रवृत्ति बतलाया है। इसलिये जहां जहां शुद्ध धर्मकी प्रवृत्ति होती हो तभी दान कहला सकता है; अन्यथा नहीं।

आगे चारों दानोंका फल दिखलाते हैं।

सौरूप्यमभयात्प्राहुराहारात्सर्वसुस्थता।
श्रुतात् श्रुतमतामीशो निर्व्याधित्वं तथौषधात् ॥ १८ ॥

अर्थ—अभयदान देनेसे सुंदररूप प्राप्त होता है। आहारदान देनेसे सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं। शास्त्रदान देनेसे श्रुतकेवली होता है। और औषधदान देनेसे नीरोग शरीरकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—जो जैसा दान देता है उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है। औषधदान देकर जो अनेक लोगोंको नीरोग बनाता है वह स्वयं नीरोग रहता है। जो शास्त्रदान देकर अनेक लोगोंको ज्ञानी बनाता है वह स्वयं श्रुतकेवली होता है। जो आहारदान देकर सुख पहुंचाता है वह स्वयं अनेक भोगोपभोगोंसे परिपूर्ण होकर सुखी होता है। और जो अभयदान देकर निर्भय करता है वह अत्यंत रूपवान होता है। इसलिये गृहस्थोंको चारों प्रकारका दान सदा देते रहना चाहिये।

आगे अभयदानको बतलाते हैं।

सत्त्वानामभयं दद्याद्दानं परममुत्तमम्।
तद्धीने हि वृथा सर्वे हेमदानादिविस्तराः ॥ १९ ॥

अर्थ—सब दानोंमें परम उत्तम दान अभयदान है। इसलिये सब जीवोंके लिये अभयदान अवश्य देना चाहिये। इस अभयदानके विना सुवर्ण आदिका महादान देना भी सब व्यर्थ है।

भावार्थ—यदि कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्यको करोडों रुपये दे डाले परंतु वह उसे मरनेसे न बचावे तो उसका वह करोडों रुपयेका दान किस काम आवेगा। यदि देने वाला करोडों रुपये न देकर केवल उस मनुष्यकी रक्षा ही करले तो वह आगे जीवित रहकर धर्मसेवन कर-सकता है और आत्म कल्याण करसकता है। जीव मरनेसे बहुत ही डरते हैं। वे अपने जीवित रहनेके लिये सब कुछ खर्च कर सकते हैं। परंतु धन बचाकर मरना कोई नहीं चाहता। इसलिये सुवर्णदान वा अन्य सब दानों की अपेक्षा अभयदान देना सबसे उत्तम है। छोटे बडे समस्त जीवोंकी रक्षा करना सबको अभय देना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है। जीवोंको अभय दान देनेकेलिये प्रत्येक गृहस्थको अपने सब काम यत्नाचारपूर्वक करना चाहिये। दुःखी जीवोंका दुःख दूर करना चाहिये और किसीको किसी तरहका भय नहीं देना चाहिये। अभय दान सबसे उत्तम दान है। यह सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

आगे अभयदान की उत्तमता और भी दिखलाते हैं।

दानमन्यद्भवेन्मा वा नरो यद्यभयप्रदः।
सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥ २० ॥

अर्थ—यदि यह मनुष्य अभय दान देनेमें तत्पर है तो उसके और दान हों वा नहीं, उसका वह अभयदान ही समस्त कार्योंकी सिद्धि करने-वाला है। क्योंकि यह अभयदान सब दानोंमें उत्तम दान गिना जाता है।

भावार्थ— यदि अन्य दान न हो तो इतनी हानि नहीं होती।

परंतु यदि अभयदान न हो तो इस जीवकी बडी भारी हानि होती है। इसका कारण यह है कि अन्य दान पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं। यदि वे न होंगे तो पुण्यकी वृद्धि नहीं होगी। परंतु यदि अभयदान न होगा, जीवोंकी रक्षा न की जायगी तो उनकी हिंसा होनेके कारण पापका बंध होगा। अतएव पापोंसे बचनेके लिये अभयदान अवश्य देना चाहिये। यह दान सबसे उत्तम है।

आगे अभयदानमें तप श्रुत व्रत सब आ जाते हैं ऐसा दिखलाते हैं।

श्रुतं सर्वं तपः सर्वं सर्वं दानं व्रतैः सह।
सर्वं प्रसाधितं तेन यः स्यादभयदानवान् ॥ २१ ॥

अर्थ— जिसने अभयदान दे लिया उसने पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया, पूर्ण तपश्चरण कर लिया, पूर्ण दान दे लिया और पूर्ण व्रत पालन कर लिये।

भावार्थ— अभयदान देनेमें सब आ जाता है। इस लिये गृहस्थोंको अभयदान अवश्य देना चाहिये।

आगे आहारदान देनेके लिये निषिद्ध भोजन बतलाते हैं।

विरूपं नीरसं विद्धमसात्म्यं व्याधिवर्द्धनम्।
मुनिभ्यो दीयते नान्नं सत्त्वश्रद्धापरैर्नरैः ॥ २२ ॥

अर्थ— जो अन्न देखनेमें सुंदर न हो, जो नीरस हो, जो घुना हुआ हो, जो रोगको बढानेवाला हो और जो ऐसा अन्न हो कि प्रकृतिके विरुद्ध पडे, ऐसा अन्न, शक्ति और श्रद्धा रखनेवाले गृहस्थोंको मुनियोंके लिये कभी नहीं देना चाहिये।

भावार्थ— मुनियोंके लिये निषिद्ध भोजन कभी नहीं देना चाहिये।

आगे और भी निषिद्ध भोजन बतलाते हैं।

फलनैवेद्यभृत्याहं विधर्मिस्पर्शदूषितम्।
दूरस्थानात्समानीतं मुनिभ्योन्नं न दीयते ॥ २३ ॥

अर्थ—जो भोजन उच्छिष्ट वा छोडा हुआ वा झूठा हो, जो नौकर चाकरोंके योग्य हो, जो विधर्मी लोगोंके स्पर्श करनेसे दूषित हो गया हो और जो किसी दूर स्थानसे लाया गया हो ऐसा भोजन मुनियोंके लिये कभी नहीं देना चाहिये।

भावार्थ—झूठा और सेवकोंके योग्य भोजन तो त्याज्य है ही परंतु अन्य धर्मियोंके द्वारा स्पर्श किया हुआ भोजन और दूरसे लाया हुआ भोजन भी मुनियोंको नहीं देना चाहिये।

इसी प्रकार—

सावद्यं पुष्पितप्रायं तथा सिद्धांतदूषितम् ।
यतिभ्योऽन्नं न दीयेत मन्त्रानीतमुपायनम् ॥ २४ ॥
दधिसर्पिःपयःप्रायमपि पर्युषितं मतम् ।
रसाद्यैरन्यथाभूतमन्यद्धान्यं विनिंदितम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अन्न पापक्रियासे उत्पन्न हुआ हो, जिसके बनानेमें अधिक पाप करना पडा हो, जो फूल गया हो, जिसपर सफेद सफेद जाली-सी पड गई हो, जो शास्त्रोंमें दूषित बतलाया गया हो, जो मंत्रपूर्वक चढाया गया हो, जो भेटमें आया हो, जो दूध दही घी अपनी मर्यादासे अधिक देर का रक्खा हो, जो चलितरस होगया हो तथा और भी जो निंदनीय धान्य हो—ऐसा अन्न मुनियोंकेलिये कभी नहीं देना चहिये।

भावार्थ—मुनियोंको सर्वथा शुद्ध भोजन देना चाहिये। जो भोजन गृहस्थोंके लिये भी निषिद्ध है ऐसा भोजन कभी नहीं देना चाहिये।

आगे मुनियोंकी सेवा सुश्रुषा करनेकेलिये कहते हैं।

बालवृद्धतपोदान्तव्याधितादितपस्विनाम् ।
सुश्रूषा सा विधातव्या या रत्नत्रयवृद्धये ॥ २६ ॥

अर्थ— जो मुनि बालक हैं, अल्प आयुवाले हैं अथवा वृद्ध है, जो घोर तपश्चरणसे उत्पन्न हुए भारी क्लेशको सहन करनेवाले हैं और जो

मुनि रोगी हैं–ऐसे मुनियोंकी ऐसी सेवा सुश्रूषा करनी चाहिये जो उनके रत्नत्रयको वढानेवाली हो ।

भावार्थ— रोगी, दुःखी, क्लेशित मुनियोंकी सेवा सुश्रूषा अवश्य करनी चाहिये और वह सेवा सुश्रूषा ऐसी करनी चाहिये जो रत्नत्रयको वढानेवाली हो । जो सेवा वा टहल चाकरी रत्नत्रयमें दोष लगानेवाली हो ऐसी सेवा सुश्रूषा कभी नहीं करनी चाहिये ।

आगे कैसे गृहस्थोंको मुनियोंकेलिये दान देना चाहिये सो कहते हैं।

सर्वारम्भविहीनेन त्रिशुद्धया शोधितात्मना ।
श्रद्धालुना विनीतेन दानं देयं तपस्विनाम् ॥ २७ ॥

अर्थ— जो गृहस्थ सब तरहके आरंभोंसे रहित हैं, मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक जिन्होंने अपना आत्मा शुद्ध कर लिया है, मुनियोंपर जिनकी पूर्ण श्रद्धा है और जो नम्र हैं–ऐसे गृहस्थोंको तपस्वि मुनियोंके लिये दान देना चाहिये ।

भावार्थ— मुनियोंकेलिये दान उन्हीं गृहस्थोंको देना चाहिये जो नम्र हों, जिनमें मुनियोंकी भक्ति हो, जो श्रद्धा रखते हों, जिनका मन वचन काय और आत्मा अत्यंत शुद्ध हो और जो सब तरहके आरंभोंसे रहित हों, पापारंभ न करते हों। ऐसे गृहस्थ ही दान देने योग्य हैं।

आगे मुनिराज किन किनके घर आहार नहीं लेते सो बतलाते हैं।

मिथ्यादृशां सलोभानां दुर्विनीतमनस्विनाम् ।
वेश्यादीनां तथा स्थाने नैवाश्नन्ति तपोधनाः ॥ २८ ॥

अर्थ—तपस्वी मुनिराज, मिथ्यादृष्टि लोभी अविनयी अभिमानी और वेश्या आदिके स्थानपर आहार कभी नहीं लेते हैं ।

भावार्थ—ये लोग विधिपूर्वक शुद्ध आहार कभी नहीं दे सकते । इसलिये ऐसे स्थानोंपर मुनिराज कभी आहार नहीं लेते हैं । मुनियोंके आहारकेलिये ये निषिद्ध स्थान हैं ।

आगे दूसरेके द्वारा दान दिलानेका निषेध करते हैं ।

धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ श्रुतोद्यमे ।
दाने स्वदेहपोषादौ प्रतिहस्तं न संदिशेत् ॥ २९ ॥

अर्थ——धर्मकार्योंमें, स्वामीकी सेवा करनेमें, पुत्र उत्पन्न करनेमें, शास्त्रोंका अभ्यास करनेमें, दान देनेमें और अपने शरीरको पुष्ट बनाने में दूसरोंकेलिये आज्ञा नहीं देनी चाहिये ।

भावार्थ——धार्मिक कार्य सब स्वयं अपने हाथसे करने चाहिये दूसरोंसे नहीं कराने चाहिये। पुत्र उत्पन्न करनेका प्रयत्न स्वयं करना चाहिये। शास्त्रोंका अभ्यास स्वयं करना चाहिये। दान भी स्वयं अपने हाथसे देना और अपना शरीर अपने आप पुष्ट करना चाहिये । ये सब काम न तो दूसरोंसे होते हैं और न कभी कराना चाहिये। यदि दूसरोंसे कराये जांयगे तो उनका फल भी उनको ही मिलेगा । केवल आज्ञा दे देने मात्रसे उनका फल अपनेको कभी नहीं मिल सकता ।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं ।

स्ववित्तं प्रतिहस्तेन दानादौ यो हि दापयेत् ॥
निःसन्देहमवाप्नोति प्रतिहस्तेन तत्फलम् ॥ ३० ॥

अर्थ जो गृहस्थ दान आदि कार्योंमें अपने धनको दूसरोंके हाथसे दिलाता है वह विना किसी संदेहके दूसरोंके ही हाथसे उसका फल प्राप्त करता है ।

भावार्थ दान पूजा आदि कार्य दूसरोंके हाथसे नहीं कराना चाहिये । जो गृहस्थ दान पूजा आदि धार्मिक कार्य दूसरोंके हाथसे कराते हैं उनका फल भी दूसरोंको ही मिला करता है । इसलिये दान पूजा आदि कार्य दूसरोंके हाथसे नहीं कराना चाहिये, अपने आप करना चाहिये ।

आगे अपने परिणाम शुद्ध रखनेकेलिये और धर्म कार्योंमें लगाने केलिये कहते हैं ।

पुष्पादि स्तवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम् ॥
भावो हि धर्महेतुः स्यात्तदत्र प्रयतो भवेत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—पुष्प जल चंदन अक्षत आदि अष्टद्रव्य रूप पूजाकी सामग्री अथवा स्तुति जप आदि बाह्य सामग्री धर्मके साधन नहीं हैं किंतु आत्माके परिणाम ही धर्मके साधन हैं। इसलिये अपने परिणामोंको शुद्ध रखनेकेलिये पूजा स्तुति आदिमें लगानेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—यदि पूजा करनेको सामग्री बहुत ही सुंदर हो, चैत्य चैत्यालय आदि बहुत ही मनोहर और हृदयग्राही हों परंतु पूजा करते हुए भी अपने भाव—अपने परिणाम पूजामें न लग रहे हों तो उस पूजासे कोई धर्म साधन नहीं हो सकता है। उस पूजासे धर्मकी वृद्धि कभी नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्तोत्र आदिका पाठ करने पर भी परिणाम न लग रहे हों तो उससे भी धर्मकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये धर्म कार्योंमें अपने परिणामोंके लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि परिणाम शुद्ध होंगे तो पुष्प स्तोत्र आदि बाह्य सामग्रीके विना भी धर्मकी वृद्धि हो जायगी, अनंत पुण्यकी प्राप्ति हो जायगी। अतएव परिणामोंका शुद्ध रखना अत्यावश्यक है।

आगे मनकी शुद्धताका फल दिखलाते हैं।

भावैः शुद्धं मनः साधु धर्मानन्त्याय सम्मतम्।
परां शुद्धिमवाप्नोति लोहं विद्धं रसैरिव ॥ ३२ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पारेके संसर्गसे लोहा अत्यंत शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार परिणामोंसे शुद्ध हुए सरल मनसे अनंत धर्मकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ— लोहा अत्यंत निम्न श्रेणीका पदार्थ है। परंतु वही लोहा पारेके संसर्गसे अत्यंत शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार जो मन शुद्ध परिणामोंके द्वारा अत्यंत शुद्ध है और जिसमें छल कपट कुछ नहीं है, जो अत्यंत सरल है ऐसे मनसे अनंत धर्मकी प्राप्ति होती है, अनंत पुण्यकी प्राप्ति होती है। अतएव धर्म साधन करनेकेलिये सबसे पहले मनको शुद्ध कर लेना चाहिये।

आगे जिस मनमें तप दान आदिकी भावना नहीं होती उससे कोई लाभ नहीं होता ऐसा दिखलाते हैं।

तपोदानादिना हीनं मनः सदपि देहिनाम् ।
तत्फलप्राप्तये न स्यात् शिलोप्ता व्रीहयो यथा ॥ ३३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पाषाणकी शिलापर धान्य बोनेसे कोई फल नहीं होता उसी प्रकार जिन जीवोंके मनमें तप दान पूजा स्तोत्र आदि की भावना नहीं होती वह मन चाहे कितना अच्छा क्यों न हो उससे किसी भी अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ—पुण्यकी प्राप्ति मनकी शुभ भावनाओंसे ही होती है। तथा मनकी शुभ भावनाओंसे तप दान आदि कार्योंका होना मनके शुभ होनेकी पहिचान है। जिसके मनमें शुभ भावना नहीं है उससे पूजा दान आदि कार्य कभी नहीं हो सकते। अतएव पुण्य प्राप्तिकेलिये मन-को शुद्ध रखना चाहिये और दान पूजा आदि कार्य सदा करते रहना चाहिये जिससे मन परंपराकेलिये शुद्ध बना रहे।

आगे मुनियोंकी वंदना करनेकेलिये कहते हैं।

वंद्यं यथार्हतां रूपं शिलालेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वर्षिरूपस्था वंद्याः संप्रति संयताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पाषाणकी शिलापर उकेरी हुई अथवा लेपद्वारा बनाई हुई अथवा और किसी तरह बनाई हुई भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमा वंदनीय है उसी प्रकार पहले समयके मुनियोंके रूपमें विराजमान इस वर्तमान समयके मुनि भी वंदनीय हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार अरहंत देवकी प्रतिमा अरहंत देवके ही समान मानी जाती है उसी प्रकार वर्तमानके मुनि पहले समयके मुनियों की प्रतिमाके समान मानने चाहिये। जिस प्रकार अरहंत देवकी प्रतिमा की पूजा वंदना की जाती है उसी प्रकार इन मुनियोंकी पूजा वंदना भी करनी चाहिये।

आगे पात्रोंके भेद बतलाते हैं।

तदुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं यतौ।
देशव्रती भवेन्मध्यं हीनमन्यः सुदर्शनः॥ ३५॥

अर्थ—जिस मुनिराजमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों रत्न विद्यमान हों वे उत्तम पात्र कहे जाते हैं। देशव्रती श्रावक मध्यम पात्र गिना जाता है और अव्रत सम्यग्दृष्टी जीव जघन्य पात्र गिना जाता है।

आगे अपात्रको दिखलाते हैं।

नास्ति रत्नत्रयं यत्र तदपात्रं सदाधमम्।
तत्रोप्तं निष्फलं सर्वमूषरायां यथा भुवि॥ ३६॥

अर्थ—जो रत्नत्रयको धारण करनेवाला न हो वह नीच अपात्र गिना जाता है। जिस प्रकार ऊसर भूमिमें बोना व्यर्थ है उसी प्रकार अपात्रको दिया हुवा दान भी व्यर्थ ही है।

भावार्थ—अपात्रको दान देनेसे कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि वहांपर रत्नत्रयकी वृद्धि नहीं होती। इसीलिये अपात्रको दिया हुआ दान भी दान नहीं कहलाता। अतएव अपात्रको पात्र समझकर कभी नहीं देना चाहिये।

आगे पात्रको ही दान देनेकेलिये कहते हैं।

पात्रे दत्तं भवेद्दत्तं धर्माय धनमुत्तमम्।
सिप्रायां वा यथा स्वातौ तोयं रत्नत्वहेतवे॥ ३७॥

अर्थ—जिस प्रकार स्वाति नक्षत्रमें सीपमें पडा हुआ पानी रत्न बन जाता है उसी प्रकार पात्रको दिया हुआ उत्तम धन धर्मके लिये दिया हुआ समझा जाता है।

भावार्थ—पात्रको दान देनेसे ही धर्मकी वृद्धि होती है। इस लिये दान सदा पात्रको ही देना चाहिये।

आगे मिथ्यादृष्टियोंके लिये दान देनेका निषेध करते हैं।

मिथ्यात्वावद्धमूलेषु तपोमात्रावभासिषु ।
दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥ ३८ ॥

अर्थ--जो मिथ्यात्वकी जडसे बंधे हुए हैं और जो ऊपरसे तपसा दिखाई देनेवाला झूठा तप कर रहे हैं ऐसे कुपात्रोंको दान देना भी दोष ही है। जिस प्रकार सर्पको दूध पिलानेसे विषकी वृद्धि होती है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंको दान देनेसे मिथ्यात्वकी ही वृद्धि होती है।

भावार्थ--कुपात्रोंको दान देनेसे फल तो मिलता है परन्तु अच्छा नहीं मिलता, दुःख देनेवाला ही मिलता है। इसलिये कुपात्रोंको भी दान नहीं देना चाहिये। मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्रको धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टी लोग कुपात्र कहलाते हैं। इनको दान देनेसे मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है। इसलिये इनको दान कभी नहीं देना चाहिये।

आगे करुणादान देनेकेलिये कहते हैं।

दीनदुःस्थितमंदेषु दयादानं प्रदीयताम् ।
प्रसिद्धिव्यवहाराय तद्दानं न निषिध्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ--जो जीव अत्यंत दीन हैं, अत्यंत दुःखी हैं और अत्यंत भाग्यहीन हैं उनकेलिये करुणादान देना चाहिये। क्योंकि संसारमें अपनी प्रसिद्धि फैलानेकेलिये ऐसे दान देनेका निषेध नहीं है।

भावार्थ--दीन और दुःखी जीवोंपर करुणा अवश्य करनी चाहिये उनका दुःख अवश्य दूर करना चाहिये। दुःख दूर करनेकेलिये दुःखी जीवोंको दान देनेका निषेध नहीं है। ऐसा दान देनेसे संसारमें यश फैलता है, कीर्ति बढती है और जीव सुखी होता है।

आगे मिथ्यादृष्टियोंकी संगतिका निषेध करते हैं।

महामिथ्यात्वसन्नद्धैर्महामानमदोद्धतैः ।
सहावासं सहालापं सहसेवां विदूरयेत् ॥ ४० ॥

अर्थ--जो मनुष्य अपने महा मिथ्यात्वमें चूर हैं तथा जो महा अभिमान और मदसे उद्धत हो रहे हैं ऐसे लोगोंके साथ बात चीत नहीं

करनी चाहिये. ऐसे लोगोंके साथ रहना नहीं चाहिये और न ऐसे लोगोंके साथ मिलकर किसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये।

भावार्थ—महामिथ्यात्वी और महाअभिमानी लोगोंके साथ मिलकर रहना, उनके साथ बात चीत करना और कामकाज करना भी सम्यग्दर्शन को मलिन करना है। इसलिये ऐसे लोगोंसे अलग रहना ही अच्छा है।

आगे मिथ्यादृष्टियोंकी संगति दुःखदायक है ऐसा दिखलाते हैं।

तत्त्ववार्तापथान्धानां मिथ्यामतप्रवर्तिनाम्।
युद्धायैव भवेद्वार्ता सहावासे विशेषतः॥ ४१॥

अर्थ—जो मनुष्य तत्त्वोंकी जानकारीके मार्गसे अंधे हैं और मिथ्यामतकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं ऐसे लोगोंके साथ बात चीत करना भी युद्धका कारण है, लडाई झगडेका कारण है। फिर भला उनके साथ रहना तो विशेषकर लडाई झगडेका कारण होता ही है।

भावार्थ— तत्त्वोंके जाननेका उपाय स्याद्वाद वा सप्तभंगी, अथवा प्रमाण नय है। इनके जाने विना तत्त्वोंका स्वरूप कभी समझमें नहीं आसकता। जो लोग इनका स्वरूप जाने विना मिथ्या मतकी प्रवृत्ति कराते हैं उनको समझाना भी कठिन है। विना स्याद्वादको समझे वे तत्त्वों के स्वरूपको समझ नहीं सकते। इसलिये वे लड पडते हैं। यदि ऐसे लोगोंके साथ सदा रहना पडे तो उनको लडाई झगडेके कारण भी सदा बने रहें। इसलिये ऐसे मिथ्यादृष्टियोंसे ही अलग रहना अच्छा है।

आगे सम्यग्दर्शनके मलिन होनेके कारण बतलाते हैं।

भयलोभोपरोधाद्यैर्मिथ्यादर्शनसेवया।
नियतं दर्शनं म्लानं भवतीति न संशयः॥ ४२॥

अर्थ— किसीके भयसे, किसी लोभसे अथवा किसीकी रोक टोक वा बंधनसे, परकी आज्ञासे वा और भी किसी कारणसे मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा करनेसे सम्यग्दर्शन अवश्य ही मलिन हो जाता है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा किसी भयसे भी नहीं करनी चाहिये, किसी लोभसे भी नहीं करनी चाहिये, किसी की प्रबल आज्ञासे वा किसी के बंधनसे भी मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उनकी सेवा करनेसे सम्यग्दर्शनमें अवश्य दोष लगता है। अतएव सम्यग्दर्शनको निर्दोष निर्मल बनाये रखनेकेलिये ऐसे लोगोंकी सेवा करनेका त्याग कर देना चाहिये।

आगे धनकेलिये मिथ्यात्वी राजाकी सेवा करना भी नहीं चाहिये ऐसा दिखलाते हैं।

बुद्धिपौरुषसाध्यासु दैवायत्तासु भूतिषु।
साधवो नैव सेवन्ते मिथ्यात्वमुदितं नृपम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—संसारमें धन धान्य ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति बुद्धिसे होती है, अपने पौरुषसे होती है अथवा भाग्यसे होती है। इसीलिये सम्यग्दृष्टी सज्जन पुरुष मिथ्यात्वसे प्रसन्न होनेवाले राजाकी सेवा कभी नहीं करते हैं।

भावार्थ—बुद्धिसे धन कमाया जाता है, परिश्रमसे धन कमाया जाता है और शुभ कर्मोंके उदयसे धनको प्राप्ति होती है। जब धन कमाने के उपाय अपने ही हाथमें हैं तब फिर मिथ्यादृष्टी राजाओं की सेवा क्यों करनी चाहिये? मिथ्यादृष्टी राजाओं की सेवा करनेसे मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है और अपने सम्यग्दर्शनमें दोष लगता है। इसलिये ऐसी सेवा का त्याग कर देना भी आवश्यक है।

आगे सम्यग्दृष्टीका आतिथ्य करनेके लिये कहते हैं।

देशव्रती यतिर्वापि यदि दर्शनमाश्रितः।
यथासमयसंप्राप्तो माननीयः सुदर्शनैः ॥ ४४ ॥

अर्थ— चाहे वह देशव्रती गृहस्थ हो और चाहे गृहत्यागी मुनि हो, यदि वह सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है और वह अपने भोजनके समयपर आजाय तो ऐसे पुरुषका आदर सत्कार सम्यग्दृष्टियोंको अवश्य करना चाहिये।

आगे गुणी पुरुषोंके आदर सत्कार करनेकेलिये कहते हैं ।

निमित्तमन्त्रयन्त्रादिवेदी वैद्योथ दर्शनी ।
माननीयो महादानैर्मिथ्यात्वाद्दर्शनं वरम् ॥ ८५ ॥

अर्थ— जो सम्यग्दृष्टी निमित्तशास्त्रको जाननेवाला है, मंत्र वा तंत्रोंका जाननेवाला है वा अच्छा वैद्य है तो उसकेलिये भी महादान देकर उसका आदर सत्कार करना चाहिये । क्योंकि मिथ्यात्वीसे तो सम्यग्दृष्टी अच्छे ही हैं—श्रेष्ठ ही हैं ।

भावार्थ— दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि धर्मकार्योंमें ज्योतिष शास्त्र एवं निमित्तशास्त्र तथा मंत्र तंत्र आदि सब शास्त्रोंके जानकार की आवश्यकता होती है । शरीरको नीरोग और स्वस्थ रखनेकेलिये वैद्यकी भी आवश्यकता होती है । यदि ये सब लोग सम्यग्दृष्टी हों तो धन देकर इनका आदर सत्कार अवश्य करना चाहिये । क्योंकि यदि सम्यग्दृष्टी ज्योतिषी वैद्य आदि न मिलेगा तो फिर अपना काम करानेके लिये मिथ्यादृष्टीके पास जाना पडेगा और धन भी देना पडेगा । तथा सम्यग्दृष्टी जितने अच्छे भावोंसे यात्रा प्रतिष्ठा आदिका मुहूर्त निकाल सकता है, जितने अच्छे भावोंसे चिकित्सा (इलाज) कर सकता है उतने अच्छे भावोंसे मिथ्यादृष्टी कभी नहीं कर सकता । इसलिये ऐसी ऐसी विद्याओंके जानकार सम्यग्दृष्टियोंका आदर सत्कार अवश्य करना चाहिये ।

आगे सम्यग्ज्ञानकी महिमा दिखलाते हैं ।

मान्यो बोधस्तपोहीनो बोधहीनं तपोर्हितम् ।
द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो व्रतवेषभृत ॥ ८६ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान तपरहित होनेपर भी मान्य है, और विना सम्यग्ज्ञानके तप भी पूज्य है । तथा जिस मनुष्यमें सम्यग्ज्ञान और तप दोनों हों वह देव माना जाता है । और जो सम्यग्ज्ञान तथा तप दोनोंसे रहित है वह केवल व्रतोंका भेष धारण करनेवाला पाखंडी है ।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होता है—विना सम्यग्दर्शनके सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इसलिये सम्यग्ज्ञान के कहनेसे सम्यग्दर्शन आ ही जाता है। दूसरी बात यह है कि सम्यग्ज्ञान स्वपर भेद विज्ञान स्वरूप आत्मज्ञानका नाम है। यदि ऐसा आत्मज्ञान विद्यमान हो किन्तु तप न भी हो तो भी वह तप कालांतरमें अवश्य हो जाता है। सम्यग्ज्ञान आत्माका सब हित करा लेता है। इसीलिये सम्यग्ज्ञान मान्य वा पूज्य है। एवं तप भी अकेला ऐसा है कि उसके संबंधसे कालान्तरमें केवलज्ञान सरीखे ज्ञान भी प्रगट होते हैं और तपसे पुण्यबंध तो अकेलेसे भी होता ही है। जिस मनुष्यमें सम्यग्ज्ञान और तप दोनों होते हैं वह साक्षात् परमेष्ठी कहा जाता है। तथा दोनोंसे रहित व्यक्ति पाखंडी और भेषधारी गिना जाता है।

आगे मिलनेपर किसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये सो कहते हैं।

यतिरूपे नमोऽस्तु स्यात्सुवृत्ते विनयो महान् ॥
परस्परं सदा भव्यैर्बन्धुभावो विधीयताम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—मुनियोंके लिये नमस्कार करना चाहिये, त्यागी वा चारित्र को धारण करनेवालेके लिये (व्रतियोंके लिये) अत्यंत विनय करना चाहिये। तथा भव्य जीवोंको परस्पर एक दूसरेके साथ भाई भाईके समान रहना चाहिये।

आगे दानकी प्रशंसा करते हैं।

धान्यमात्रप्रदानेन मान्या मुद्राभृतो नराः ।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुध्यति ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मुनियोंकी मुद्राको धारण करनेवाले हैं उन्हें आहारदान देकर उनका आदरसत्कार अवश्य करना चाहिये। वे चाहे सच्चे तपस्वी हों अथवा केवल वेशधारी हो परंतु गृहस्थ दान देनेसे शुद्ध अवश्य हो जाता है।

भावार्थ—आहारदान देनेके लिये मुनियोंकी परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे चाहे सम्यग्दृष्टी हों, चाहे मिथ्यादृष्टी हों यदि वे जिनमुद्राको धारण किये हुए हैं और बाह्य सब क्रियाओंको पालन करते हैं तो उन्हें विना किसी विचारके अवश्य आहारदान दे देना चाहिये। क्योंकि गृहस्थकी शुद्धि दानसे ही है। भोजनादिकके आरंभसे जो पाप होता है वह सब दान देनेसे नष्ट हो जाता है। इसलिये निर्ग्रंथ मुनि चाहे द्रव्य लिंगी ही क्यों न हों उन्हें आहारदान अवश्य देना चाहिये।

आगे साधर्मियोंको भी दान देनेका विधान करते हैं।

धन्यैर्लब्धं धनं देयं दातव्यं समयाश्रिते।
सहस्रेपि न लभ्येत पात्रं रत्नत्रयान्वितम् ॥ ४९ ॥

अर्थ— बडे पुण्यवान् पुरुषोंको शुभ कर्मोंके उदयसे धन प्राप्त होता है। अतएव जैन धर्मको धारण करनेवालोंके लिये वह अवश्य दे डालना चाहिये। क्योंकि रत्नत्रयसे सुशोभित होनेवाला पात्र तो हजारोंमें भी नहीं मिलता।

भावार्थ — दान देनेकेलिये उत्तम पात्रका संयोग मिलना अत्यंत कठिन है। अतएव मध्यम पात्रोंके लिये भी दान देना चाहिये और जघन्य पात्रोंकेलिये भी देना चाहिये। मध्यम वा जघन्य पात्रोंमेंसे जिसको जिसकी आवश्यकता हो उसको वही पदार्थ देकर अपने धनका सदुपयोग कर लेना चाहिये। क्योंकि धन शुभ कर्मोंके उदयसे प्राप्त होता है। जब तक शुभ कर्मोंका उदय है तब तक वह धन देनेपर भी उतना ही बना रहेगा। तथा अशुभ कर्मोंका उदय होनेपर न देनेपर भी नष्ट हो जायगा। इसलिये दान देकर धनका सदुपयोग अवश्य कर लेना चाहिये। गृहस्थकी शोभा और कीर्ति सब दानसे ही होती है।

आगे मध्यम दानका स्वरूप कहते हैं।

यदात्मसंस्तवप्रायं समानमनसाहितम्।
परप्रत्ययसम्भूतं तद्दानं मध्यमं मतम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस दानके देनेमें अपनी प्रशंसा की जाय, अभिमान भरे हुए मनसे दिया जाय अथवा दूसरोंके द्वारा दिलाया जाय वह हित करने वाला दान भी मध्यमदान कहलाता है।

भावार्थ—अपनी प्रशंसा करते हुए दान कभी नहीं देना न अभिमानसे देना चाहिये। क्षणभरकेलिये अपना ऐश्वर्य दिखलानेवाला दान भी मध्यम वा राजस दान है। अपना धन दूसरोंके हाथसे भी नहीं दिलाना चाहिये। जो देना हो उसे स्वयं देना चाहिये।

आगे जघन्य वा तामस दानको बतलाते हैं।

पात्रापात्रसमावस्थमसन्मानमसम्मतम् ।
भृत्यादिहस्तसंदत्तं तद्दानं तामसं विदुः ॥ ५१ ।

अर्थ—जिस दानमें पात्र अपात्र सब समान दृष्टिसे देखे जांय, जो विना सत्कार किये दिया जाय. विना मनके दिया जाय और नौकर चाकरोंके हाथसे दिलाया जाय वह दान तामस वा जघन्य दान गिना जाता है।

भावार्थ—जो दान विना भक्तिके, विना श्रद्धाके, विना आदर-सत्कारके, विना मनके, नौकर चाकरोंके हाथसे दिलाया जाता है वह तामस दान कहलाता है।

आगे सात्त्विक दानको कहते हैं।

महादरः स्वयं यत्र पात्रापात्रविभावना ।
महाश्रद्धा महान् यत्नस्तद्दानं सत्त्वसम्भवम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिस दानमें अपने आप बडा भारी आदर सत्कार किया जाय जिसमें पात्र अपात्रका पूर्ण विचार किया जाय जो दान बडी भारी श्रद्धा पूर्वक दिया जाय और जिसके देनेकेलिये बडा भारी प्रयत्न किया जाय वह दान सात्त्विक दान कहलाता है।

भावार्थ—जो दान श्रद्धापूर्वक, भक्तिपूर्वक, विधिपूर्वक, आदर-सत्कारपूर्वक विचारपूर्वक और प्रयत्नपूर्वक दिया जाता है वह सात्त्विक दान कहलाता है।

आगे इन दानोंकी हीनाधिकता दिखलाते हैं।

सर्वेषामेव दानानामुत्तमं सत्त्वसम्भवम्।
विनिन्द्यं तामसं दानमपरं मध्यमं विदुः॥ ५३॥

अर्थ—इन सब दानोंमें सात्त्विक दान उत्तम दान कहलाता है, तामस दान निंद्य कहलाता है और तीसरा राजस दान मध्यम कहलाता है।

भावार्थ—गृहस्थोंको सात्त्विक दान देना चाहिये और तामसदान का सर्वथा त्याग करदेना चाहिये।

आगे दान की महिमा दिखलाते हैं।

यद्दत्तं तदमुत्र स्यादिति भाषा मृषार्थिनाम्।
धेनुभिर्दीयते यस्य पलालाहारतः पयः॥ ५४॥

अर्थ—'जो दान इस जन्ममें दिया गया है वह परलोकमें प्राप्त होगा' ऐसी इच्छा स्वार्थी लोगोंको रखना भी व्यर्थ है क्योंकि गाय भी तो भूसा वा पुआल खाकर दूध देती है।

भावार्थ—जिस प्रकार गाय पुआल घास वा भूसा खाती है; वह उसे खाकर घास वा भूसा ही नहीं देती किंतु दूध देती है। इसी प्रकार दानमें जो पदार्थ दिया जाता है वही प्राप्त नहीं होता किंतु उस दानसे अचिंत्य और अपरिमित फल प्राप्त होता है। इसलिये दान देकर बदलेमें प्राप्त होनेकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये।

आगे दानका फल बतलाते हैं।

मुनिभ्यस्तुषपूपोपि दत्तः शुद्धस्वभावतः।
भवेदनन्तधर्माय समये समुपस्थितः॥ ५५॥

अर्थ—यदि मुनियोंके लिये अपने शुद्ध परिणामोंसे भूसीका बना हुआ पूआ भी समयपर उपस्थित किया जाय तो उससे भी अनंत धर्मकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—दान अपनी शक्ति के अनुसार दिया जाता है। यदि घरमें उत्तम पदार्थ रहते हुए भी मुनियों के लिये निकृष्ट पदार्थ दिये

जायं तब तो देनेवालेके परिणाम लोभी होने के कारण पाप ही होता है परंतु यदि घरमें कुछ न हो भूसो आदि निकृष्ट पदार्थ ही हों और अपने लिये उन्हींका भोजन बनाया हो तथा ऐसे ही समयमें मुनियों के पधारनेका संयोग हो जाय; हृदयमें भक्ति श्रद्धा आदि गुण विद्यमान हों और विधि पूर्वक विनय पूर्वक वही दान दिया जाय तो उससे भी अनंत पुण्यकी प्राप्ति परिणामोंसे होती है। पुण्यप्राप्ति पदार्थोंके ऊपर निर्भर नहीं है। अतएव दान देते समय अपने परिणाम शुद्ध अवश्य रखने चाहिये।

आगे मौन धारण करनेके लिये कहते हैं।

व्रतलोपो हि लौल्येन सर्वेषामेव देहिनाम् ।
स तु मौने धृते न स्यात्तन्मौनमशनादिषु ॥ ५६ ॥

अर्थ—संसारके समस्त प्राणियों के लोलुपता के कारण व्रतका लोप हो जाता है। और वह लोलुपता मौन धारण करनेसे नहीं होती। इसलिये व्रती श्रावकोंको भोजनादि कार्योंमें मौन धारण अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ—भोजन करते समय मौन अवश्य धारण करना चाहिये। मौन धारण करनेसे लोलुपता नष्ट होती है, जीवों की रक्षामें, आहारकी शुद्धता में ध्यान रहता है, और भोजन परिमित किया जाता है। इसलिये मौन अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे मौन धारण करनेके लाभ बतलाते हैं।

श्रुतस्य विनयो मौनान्मौनान्नियमपालनम् ॥
व्रताभिमानसम्पत्तिरेतस्मादेव देहिनाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—मौन धारण करनेसे श्रुतज्ञानका विनय होता है, नियमोंका पालन होता है और व्रतोंके पालन करनेरूप संपत्ति भी प्राणियोंको इसी मौन धारण करनेसे होती है।

भावार्थ—अधिक बोलनेसे श्रुतज्ञानका अविनय होता है। क्योंकि अधिक बोलनेसे कुछ न कुछ मिथ्याभाषण हो जानेकी संभावना अवश्य रहती है। तथा मिथ्या भाषण हो जाना वा कुछ अपशब्दोंका निकल

जाना ही श्रुतज्ञानका अविनय है। वह अविनय मौन धारण करनेसे दूर हो जाता है। तथा नियमोंका स्मरण उनके पालन करनेका स्मरण सब मौन धारण करनेसे ही होता है। अन्यथा बातों बातोंमें ही सब भूल जाते हैं। हम व्रती हैं यह ज्ञान मौन धारण करनेसे ही होता है। अथवा व्रत स्वात्माभिमान और संपत्तियां सब मौन धारण करनेसे ही प्राप्त होती हैं। इसलिये भोजनादि कार्योंमें मौन अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे मौनके भेद बतलाते हैं।

मनोमौनं वपुर्मौनं भषामौनमिति त्रिधा ॥
भाषामौनविहीना ये ते परं पशवो नराः ॥ ५८ ॥

अर्थ—मनका मौन धारण करना, शरीरका मौन धारण करना और भाषाका मौन धारण करना इस प्रकार मौन तीन प्रकारका है। इनमेंसे जो भोजनादिक कार्योंमें भाषा मौनसे भी रहित हैं उन मनुष्योंको निरे पशु समझना चाहिये।

भावार्थ— मनकी क्रियाको रोकना, मनसे कुछ चिंतवन न करना मनका मौन कहलाता है। शरीरकी कुछ क्रिया न करना शरीरका मौन है। और वचनसे कुछ न कहना, सर्वथा चुप रहना भाषा मौन कहलाता है। इनमेंसे गृहस्थोंके लिये मनकी क्रिया रुकना अत्यंत कठिन है। मन अत्यंत चंचल है, कुछ न कुछ चिंतवन करता ही रहता है। इसलिये मनका मौन गृहस्थोंसे बन नहीं सकता। तथा शरीरका मौन भी नहीं बन सकता। क्योंकि भोजनादि कार्योंमें शारीरिक क्रिया करनी ही पडती है। वह गृहस्थ केवल वचनका मौन धारण कर सकता है। वह उसे अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे शास्त्रदानकेलिये कहते हैं।

सर्वस्य शासनस्यापि यथाश्रुतसमाश्रयः।
भवत्येव तथा नित्यं विधातव्यं प्रयत्नतः ॥ ५९ ॥

अर्थ— यह समस्त शासन शास्त्रज्ञानके आधारपर ही टिका हुआ है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक शास्त्रदान सदा देते रहना चाहिये।

भावार्थ – यह तीर्थंकर परम देवका शासन, मोक्षमार्ग वा जैनधर्म सब शास्त्रके आधारपर ही टिक रहे हैं। इनमें युक्तियोंसे कुछ काम नहीं चल सकता। इस शासनका मुख्य ध्येय स्वपरभेदविज्ञानस्वरूप आत्म तत्त्वका जानना है। वह आत्मतत्त्व इंद्रियोंके अगोचर है। केवल शास्त्रोंसे ही जाना जा सकता है। अतएव शास्त्रोंका स्वाध्याय पठन पाठन आदि रखनेकेलिये शास्त्रदान करना चाहिये। मुनियोंको, विद्यार्थियोंको, स्वाध्याय करनेवालोंको तथा और भी जिनको आवश्यकता हो उन्हें शास्त्र देना चाहिये।

आगे शास्त्रदानकेलिये और भी कहते हैं।

> स्वाध्यायहेतवः सर्वे संप्रदेयास्तदर्थिनाम्।
> श्रुतवृद्धमुपाध्यायं तीर्थेशमिव मन्यताम्॥ ६०॥

अर्थ — शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेकेलिये उनके चाहनेवालोंको समस्त शास्त्र देना चाहिये और उत्कृष्ट शास्त्रज्ञानको धारण करनेवाले उपाध्यायको तीर्थंकरके समान मानना चाहिये।

भावार्थः— जिन जिनको शास्त्रोंकी आवश्यकता हो उन्हें पठन पाठन करनेकेलिये शास्त्र अवश्य देना, यदि स्वयं पढाने योग्य हो तो पढाना चाहिये। तथा श्रुतज्ञानकी वृद्धिके जो जो उपाय हैं वे सब करने चाहिये। तीर्थंकर जिस प्रकार उपदेश देकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं उसी प्रकार उपाध्याय भी उन्हीं तीर्थंकरोंके उपदेशका प्रचार करते हैं, अनेक शिष्योंको पढाते हैं, स्वाध्याय कराते हैं और धर्मोपदेश देते हैं। इसलिये उपाध्यायोंकी पूजा भक्ति विशेष करना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानका लाभ दिखलाते हैं।

> श्रुतबोधप्रदीपेन शासनं वर्ततेधुना।
> विना श्रुतप्रदीपेन सर्वं विश्वं तमोमयम्॥ ६१॥

अर्थ—यह श्रुतज्ञान एक दीपकके समान है। वर्तमान समयमें इस जैन धर्मकी प्रवृति इन शास्त्रोंसे होनेवाले प्रकाशसे ही हो रही है। विना शास्त्रोंके प्रकाशके फिर इस समस्त संसारको अंधकारमय ही समझना चाहिये।

भावार्थ—इस कराल कलिकालमें भी जो कुछ थोडी वहुत मोक्ष मार्गकी प्रवृत्ति दिखाई देती है वह शास्त्रोंका वा श्रुतज्ञानका ही प्रभाव है। मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें आत्मतत्त्वका ज्ञान श्रुतज्ञानसे ही होता है। यदि उस आत्मतत्त्वको दिखलाने वाला श्रुतज्ञान न हो—शास्त्र न हों तो फिर इस संसारमें सब ओर अंधेराही अंधेरा समझना चाहिये। शास्त्रोंके सिवाय इस जैन धर्मके स्वरूपको दिखलानेवाला और कोई नहीं है। अतएव श्रुतज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये, शास्त्रोंका दान देना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानकी महिमा दिखलाते हैं।

श्रुतवृद्धिर्मुनीन्द्रेषु प्रवर्तेत यथा यथा।
तथा तथा निवर्तेत विश्वतो मोहसन्ततिः॥ ६२॥

अर्थ—मुनियोंमें श्रुतज्ञानकी वृद्धि जैसी जैसी बढती जाती है वैसे ही वैसे इस संसारसे मोहकी संतान नष्ट होती जाती है।

भावार्थ—मुनिराज शास्त्रज्ञानके द्वारा अपना मोह नष्ट करते हैं और धर्मोपदेश देकर अन्य कितने ही भव्य जीवोंका मोह दूर करते हैं। इस प्रकार ज्यों ज्यों श्रुतज्ञानकी वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों मोह दूर होता जाता है। इसलिये श्रुतज्ञानकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये और उसके लिये शास्त्रदान अवश्य देना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानकी वृद्धिके लिये और भी हेतु देते हैं।

नश्यत्येव ध्रुवं सर्वं श्रुताभावेत्र शासनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रुतसारं समुद्धरेत्॥ ६३॥

अर्थ—यदि श्रुतज्ञानका अभाव हो जाय तो इस संसारमे समस्त

जैन धर्मका वा मोक्षमार्गका अवश्य ही नाश हो जाय। इसलिये पूर्ण प्रयत्नके साथ इस श्रुतज्ञानका उद्धार करना चाहिये।

भावार्थ—ऊपर यह बता चुके हैं कि इस मोक्षमार्गकी स्थिति शास्त्रज्ञानके ही आधार पर है। विना शास्त्रज्ञानके यह सब शासन, यह सब धर्म ठहर नहीं सकता। इसलिये इस श्रुतज्ञानकी वृद्धिके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये और अपनी सब शक्ति लगाकर भी इसका उद्धार कर लेना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानका और भी लाभ दिखलाते हैं।

श्रुतात्तत्त्वपरामर्शः श्रुतात्समयवर्द्धनम्।
तीर्थेशाभावतः सर्वे श्रुताधीनं हि शासनम्॥ ६४॥

अर्थ—श्रुतज्ञानसे तत्त्वोंका विचार होता है। श्रुतज्ञानहीसे धर्मकी वृद्धि होती है। और तीर्थकरोंके अभावमें यह समस्त धर्म श्रुतज्ञानके ही आधीन हो जाता है।

भावार्थ—आत्मतत्त्वके विचारमें भी श्रुतज्ञान ही कारण है। और मोक्षमार्गकी वृद्धि वा धर्मकी वृद्धिमें भी श्रुतज्ञान ही कारण है। इस मोक्षमार्ग वा जैन धर्मका प्रचार तीर्थंकर परमदेव करते हैं। जब वे नहीं रहते तब इसका प्रचार श्रुतज्ञानके आधीन हो जाता है। फिर इसका प्रचार श्रुतज्ञानसे ही हो सकता है। विना श्रुतज्ञान के फिर इसके प्रचारका और कोई साधन नहीं है। इसलिये श्रुतज्ञानकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये।

आगे शास्त्रदानकी महिमा दिखलाते हैं।

श्रुतदानात्परो बोधः शाश्वतोस्य प्रपद्यते।
श्रुतोपधिप्रधानेन सर्वोत्तमपदं भवेत्॥ ६५॥

अर्थ—ज्ञानदान देनेसे इस जीवको सदा प्रकाशमान रहनेवाला केवलज्ञान प्रगट होता है और शास्त्रज्ञानके साधनोंका—शास्त्र आदिकों का दान देनेसे इस संसारमें सबसे उत्तम पद प्राप्त होता है।

भावार्थ—शास्त्र दान करना स्वाध्यायशाला बनवादेना आदि सब श्रुतज्ञानके साधन हैं। जिस प्रकार ज्ञान दान देनेसे पठन पाठन करानेसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार ज्ञानके साधनोंका दान देनेसे भी उत्तमोत्तम पद प्राप्त होते हैं। अतएव ज्ञान दान–शास्त्रदान सदा करते रहना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानियोंकी दुर्लभता दिखलाते हैं।

स्वदेहायाससंलीनाः सुलभाः स्युः पदे पदे ॥
श्रुततत्त्वार्थसम्पन्ना दुर्लभास्ते नरोत्तमाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो अपने शरीरके परिश्रम करनेमें लगे रहते हैं ऐसे मनुष्य स्थान स्थानपर बडी सुलभता से मिल सकते हैं। परंतु जिन्होंने श्रुतज्ञानके द्वारा तत्त्वोंके स्वरूपको अच्छी तरह समझ लिया है ऐसे उत्तम मनुष्य इस संसारमें बहुत दुर्लभ हैं।

भावार्थ—प्रथम तो श्रुतज्ञानका प्राप्त होना ही अत्यंत कठिन है और फिर उसमें भी आत्मतत्त्वका जानना अत्यंत कठिन है। अतएव मनुष्यजन्म पाकर और आत्मज्ञानकी सब सामग्री पाकर श्रुतज्ञान और आत्मज्ञानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। यह अभ्यास मनुष्य जन्ममें ही हो सकता है। और मनुष्यजन्म बडी कठिनतासे प्राप्त होता है। इसलिये ऐसे इस मनुष्यजन्मको पाकर व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। श्रुतज्ञान और आत्मज्ञान धारण कर इसे सफल बनाना चाहिये।

आगे ज्ञानकी महिमा दिखलाते हैं।

तीव्रतीव्रतपोभारैर्निर्बोधे यत्फलं भवेत् ॥
तदेव बोधसंपत्तौ लवार्धेन फलं भवेत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—विना ज्ञानके अत्यंत कठिन कठिन तपश्चरणोंके करनेसे जो फल मिलता है वही फल ज्ञानरूपी संपत्तिके प्रगट हो जाने पर आधे क्षणमें ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञानकी अपार महिमा है। जबतक स्व-

परभेदविज्ञानस्वरूप आत्मज्ञान नहीं होता तबतक कठिन कठिन तपश्चरण करनेसे भी कोई लाभ नहीं होता। जबतक वह आत्मतत्त्व कर्मतत्त्व और कर्मोंसे होनेवाले क्रोधादिक विकारों को समझेगा ही नहीं तबतक वह उन क्रोधादि विकारोंको दूर करनेका उपाय ही नहीं करेगा और न कर्मोंके नाश करनेका उपाय करेगा। ऐसी अवस्थामें उस मिथ्या तपसे कोई भी लाभ नहीं हो सकता। तपका फल ही कर्मोंका नाश होना है और वह कर्मोंका नाश आत्मतत्त्वके ज्ञान होनेपर हो सकता है। इसलिये सबसे पहले आत्मतत्त्वका ज्ञान संपादन करना चाहिये और उसके लिये शास्त्रोंका पठन पाठन करना चाहिये, स्वाध्याय करना चाहिये और शास्त्रदान देना चाहिये।

आगे औषधदानको कहते हैं।

शारीरा मानसा वाह्यास्त्रिविधा व्याधयो मताः।
ब्रह्मस्थानां व्रतस्थानां तदभावो विधीयताम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—संसारमें व्याधियां तीन प्रकारकी हैं. शारीरिक व्याधि मानसिक व्याधि और बाहरसे आनेवाली आगंतुक व्याधि। मनमें उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको मानसिक व्याधि कहते हैं। शरीरमें उत्पन्न होनेवाले फोडा ज्वर रोग आदि दुःखोंको शारीरिक व्याधि कहते हैं। और उपसर्गोंको वाह्य व्याधि कहते हैं। यदि ये व्याधियां व्रती मुनियोंके हों तो उन्हें अवश्य दूर करना चाहिये। औषधदान देकर अथवा टहल चाकरी करके उन व्याधियोंको दूर करना चाहिये। मुनियोंका वैयावृत्य करना गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य है।

आगे शारीरिक व्याधियोंको दूर करनेके लिये कहते हैं।

धातुदोषमलादिभ्यः संभूता बहुभेदतः।
शारीरा व्याधयो यत्नान्निहंतव्यास्तपस्विनाम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—धातु उपधातुओंके दोषसे उत्पन्न हुए अथवा मलसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके शरीरसंबंधी मुनियोंके रोगोंको बडे यत्नसे दूर करना चाहिये।

भावार्थ—रोग होजानेपर भी मुनिराज किसीसे कहते नहीं, न आहारके समयके सिवाय दूसरे समय वे औषधि ले सकते हैं। इसलिये बडे यत्नसे रोगोंको जानना चाहिये और मालुम हो जानेपर बडे प्रयत्नसे आहारके साथ औषधि देकर रोगोंको दूर करना चाहिये।

आगे मनके दुःखोंको दूर करनेके लिये कहते हैं।

दौर्मनस्यमनस्तापदुःस्वप्नादिसमुद्भवाः ॥
मानसा व्याधयोन्येपि निहंतव्या व्रतार्थिनाम् ॥ ७० ॥

अर्थ—मनकी चंचलता, मनका संताप और अशुभ स्वप्न आदिसे उत्पन्न होनेवाले मुनियोंके मानसिक दुःखोंको भी दूर करना चाहिये।

भावार्थ—मनके दुःखोंके जो जो कारण हैं उनको दूर कर देना चाहिये और जिस प्रकार उनका मन निश्चित हो वही प्रबंध कर देना चाहिये।

आगे आगंतुक व्याधियोंको दूर करनेके लिये कहते हैं।

शीतवातादयो बाह्या व्याधयो बहुभेदतः ॥
सर्वान् संयमिनां हत्वानंतधर्मं समाहरेत् ॥ ७१ ॥

अर्थ—शीत वायु गर्मी डांस मच्छर आदि अनेक प्रकारसे उत्पन्न होनेवाले दुःख बाह्य दुःख कहलाते हैं। गृहस्थोंको मुनियोंके समस्त बाह्य दुःख दूर कर अनंत पुण्यका संचय करना चाहिये।

भावार्थ—बाहरसे जो आकस्मिक दुःख आ जाते हैं वे सब बाह्य दुःख हैं। मुनियोंके ये सब दुःख भी दूर कर देना चाहिये। मुनियोंके दुःख दूर करनेसे—वैयावृत्य करनेसे गृहस्थोंको अनंत पुण्यकर्मोंका बंध होता है।

आगे औषधिदानके लिये कहते हैं।

स्वल्पसावद्यसम्पन्नैर्महामूल्यैर्महौषधैः।
धर्मार्थं मुनिदेहस्थान् व्याधीन् यत्नेन संहरेत् ॥ ७२ ॥

अर्थ—बडी बडी महामूल्यकी औषधियां जो थोडेही आरंभोंसे बन जाती हों उन औषधियोंके द्वारा धर्मकी वृद्धिके लिये मुनियोंके शरीरमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंको बडे प्रयत्नसे दूर करना चाहिये।

भावार्थ—रसादिक औषधियां जो शुद्ध हों जिनके तैयार करनेमें अधिक पापारंभ न करना पडे ऐसी औषधियोंके द्वारा रोगोंको दूर करना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि मुनिराज तो अपने शरीरसे ममत्त्व रखते नहीं और रत्नत्रयकी सिद्धि शरीरसे ही होती है तथा मुनियोंके शरीरकी रक्षा गृहस्थोंके हाथ है। अतएव मुनियोंके शरीरके रोग दूर करना, सेवा चाकरी करना, वैयावृत्य करना गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य है। गृहस्थोंको यह कार्य बडे प्रयत्नसे करना चाहिये।

आगे औषधिदानका फल दिखलाते हैं।

द्रव्यदेहप्रयासेन मुनिव्याधिशतं तुदन्।
दिव्यदेहो भवेद्भव्यः सर्वसम्पत्तिभूषितः॥ ७३॥

अर्थ—जो भव्य जीव औषधि आदि द्रव्यके द्वारा अथवा शरीरके परिश्रमसे मुनियोंकी सैकडों व्याधियोंको दूर करता है वह दिव्य शरीरको पाता है और समस्त संपत्तियोंसे सुशोभित होता है।

भावार्थ—औषधिदानका फल दिव्य और नीरोग शरीरका प्राप्त होना है। उस दिव्य शरीरके साथ साथ इंद्र अहमिंद्र आदिकी अनुपम विभूतियां प्राप्त होती हैं और परम सुख प्राप्त होता है। इसलिये औषधिदान अवश्य देना चाहिये।

आगे समाधिमरणके धारण करनेका उपदेश देते हैं।

दुःसंचारे महाव्याधौ वृद्धत्वे दुस्तरेऽथवा॥
सुरासुरनरादिभ्यो मृत्योर्वा समुपस्थिते॥ ७४॥
धान्याभावे महावैरे संप्राप्ते वा द्विपद्धले॥
धर्मवृत्ततपोहानिहेतौ वा समुपस्थिते॥ ७५॥
देहे धर्मविधौ मन्दे स्वान्ते विह्वलतामिते॥

संन्यासः प्रविधातव्यो धर्मस्थैर्भवभीरुभिः ॥ ७६ ॥

अर्थ—जिसका कोई उपाय न होसके—जो आराम न हो सके ऐसा कोई महारोग होगया हो अथवा अत्यंत बुढापा आगया हो अथवा किसी देव विद्याधर वा मनुष्यके द्वारा होनेवाली मृत्यु समीप आगई हो, दुर्भिक्ष आदि के कारण अन्नादिकका मिलना असंभव होगया हो, किसी के साथ प्रबल शत्रुता होगई हो और उसमें मरना अनिवार्य होगया हो, अपने देशपर किसी बलवान् शत्रुकी सेना चढ आई हो, धर्मको हानि पहुंचानेवाले, चारित्रको हानि पहुंचानेवाले वा तपश्चरणको हानि पहुंचाने वाले कारण उपस्थित होगये हों, अपना शरीर धार्मिक कार्योंके करनेमें शिथिल होगया हो अथवा मन अत्यंत व्याकुल होगया हो तो संसारके दुःखोंसे डरनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंको समाधिमरण धारण कर लेना चाहिये।

भावार्थ—जो किसी भी उपायसे दूर न हो सकें ऐसे रोगोंके उत्पन्न हो जाने पर वा अत्यंत बुढापा आजानेपर अथवा आयुका अंत करनेवाले बाह्य कारणोंके मिल जानेपर धर्मात्माओंको समाधिमरण अवश्य धारण करलेना चाहिये।

आगे समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं।

स्नेहं स्त्रीपुत्रमित्रादौ मोहं श्रीसारवैभवे।
द्वेषं शात्रवसन्ताने हित्वा संन्यासमाश्रयेत् ॥ ७७ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र मित्र आदिसे स्नेह छोडकर धनसंपत्तिसे मोह छोडकर और शत्रुओंसे द्वेष छोडकर समाधिमरण धारण करना चाहिये।

भावार्थ—समाधिमरण धारण करनेके पहले राग द्वेष और मोहको अवश्य छोड देना चाहिये। जबतक रागद्वेष मोहका त्याग कर मन शुद्ध न किया जायगा तबतक समाधिमरण धारण हो ही न सकेगा। अतएव सबसे पहले इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।

आगे तप करने योग्य पुरुषोंको समाधिमरण धारण नहीं करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं।

वृत्तं धर्तुं तपस्तप्तुं समर्थोपि यदीहते ॥
संन्यासं स व्रतद्वेपी नियतं परिभाव्यताम् ॥ ७८ ॥

अर्थ–जो मुनि चारित्र धारण करने और तपश्चरण करनेमें समर्थ होकर भी यदि समाधिमरण धारण करना चाहता हो तो उसे व्रतोंका द्वेषी ही समझना चाहिये ।

भावार्थ–जबतक व्रत चारित्र और तप धारण करनेकी शक्ति हो तबतक समाधि मरण कभी धारण नहीं करना चाहिये ।

ऐसी शक्ति रहनेपर भी जो समाधि मरण धारण करना चाहे तो समझना चाहिये कि वह तप करना नहीं चाहता अथवा चारित्रको ही धारण करना नहीं चाहता । अतएव जबतक तप और चारित्र धारण करनेकी शक्ति हो तबतक संन्यास कभी नहीं धारण करना चाहिये ।

आगे समाधिमरण कब धारण करना चाहिये सो कहते हैं ।

यावत्प्रवर्तते देहस्तावद् वृत्ताय नोद्यताम् ।
दुर्बले मन्दसत्त्वस्थे देहे मृतिमुपाश्रयेत् ॥ ७९ ॥

अर्थ—जबतक शरीर अपना काम करता रहे तबतक चारित्र धारण करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिये । जब शरीर निर्बल हो जाय, काम करनेकी शक्ति न रहे तब समाधिमरण धारण करना चाहिये ।

भावार्थ—समाधिमरण तब धारण करना चाहिये जब यह शरीर सर्वथा बेकार और नष्ट होनेके सन्मुख हो जाय । जबतक शरीर चलता रहे तबतक तपश्चरण ही करना चाहिये ।

आगे निर्यापकाचार्यके समीप जानेके लिये कहते हैं ।

वर्षद्वादशपर्यन्तं देशे देशे भ्रमन् व्रती ।
संन्यासविधिधौरेयं साधुः सूरिं निभालयेत् ॥ ८० ॥

अर्थ—व्रती साधुको बारह वर्ष तक प्रत्येक देशमें घूम फिर कर समाधिमरण की विधिके जाननेमें अत्यन्त चतुर मुख्य आचार्यको ढूंढ लेना चाहिये ।

भावार्थ—समाधिमरणके लिये निर्यापकाचार्य की अत्यंत आवश्यकता रहती है। निर्यापकाचार्यके विना समाधिमरणकी विधि निर्विघ्न रीतिसे अच्छी तरह नहीं पल सकती। अतएव समाधि मरण धारण करनेके लिये किसी उत्तम और मुख्य आचार्यसे प्रार्थना करनी चाहिये। यदि ऐसा आचार्य समीप न हो तो ऐसे आचार्यको ढूंढनेके लिये वारह वर्ष तक देश देशांतरमें भ्रमण करना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि समाधि मरणकी मर्यादा वारह वर्ष तक है। अधिकसे अधिक वारह वर्ष तक समाधिमरण धारण किया जा सकता है।

आगे शल्योंके त्याग करने और व्रतोंकी शुद्धिके लिये कहते हैं।

पादमूले स्थितस्तस्य शल्यत्रितयमुद्धरन्।
मूलोत्तरव्रतादीनां तथा शुद्धिं समाश्रयेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—उन आचार्यके चरणकमलोंके समीप रहकर माया मिथ्या निदान इन शल्योंका त्याग कर देना चाहिये और मूलगुण तथा उत्तर गुण दोनों प्रकारके व्रतोंकी शुद्धि धारण करना चाहिये।

भावार्थ—माया मिथ्या निदान ये तीनों शल्य वडी ही प्रवल हैं। जबतक इनका त्याग नहीं होता तबतक वह व्रती ही नहीं कहला सकता। अतएव सबसे पहले इन तीनों शल्योंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। तदनंतर उस साधकको अपने व्रत शुद्ध करने चाहिये। उनमें जो कुछ अतिचार लगे हों उनका आलोचन प्रतिक्रमण करना चाहिये और आगेके लिये कोई दोष न लगने पावे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

आगे भोजनके त्याग करनेकी विधि वतलाते हैं।

धान्यानि विधिना हित्वा तीव्रतीव्रैस्तपोवलैः।
ततोपि सरसं पेयं नीरसं हापयेत्ततः ॥ ८२ ॥

अर्थ—अत्यंत घोर तपश्चरणके द्वारा सबसे पहले विधिपूर्वक अनुक्रमसे सब प्रकारके धान्योंका त्याग कर देना चाहिये। तदनंतर दूध आदि सरस पेय [पीने योग्य] पदार्थोंका त्याग करना चाहिये

और फिर नीरस पेयका त्याग करना चाहिये ।

तदनंतरः—

सर्वं पेयं ततो हित्वा शुद्धे तोये स्थितिं श्रयेत् ।
शुद्धतोयं ततो नूनं विधिना परिहापयेत् ॥ ८३ ॥

अर्थ—तदनंतर सब प्रकारके पेय पदार्थोंका त्याग कर शुद्ध जलके सहारे अपनी स्थिति रखना चाहिये । और फिर विधिपूर्वक शुद्ध जलका भी त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ—आहारका त्याग कर दूधके सहारे रहना चाहिये । दूधका त्याग कर छाछके सहारे रहना चाहिये । छाछका त्याग कर गर्म जलके सहारे रहना चाहिये। और फिर गर्म जलका भी त्याग कर उपवास धारण करना चाहिये । इन सबका त्याग अनुक्रमसे विधिपूर्वक करना चाहिये यदि आकस्मिक घटनाओं के कारण अथवा अन्य किसी कारणसे इतना समय न मिले तो फिर सब प्रकारके आहारका त्याग एक साथ करदेना चाहिये और अंतमें अपनी शक्तिके अनुसार उपवास धारण करना चाहिये ।

आगे दोषों के दूर करनेके लिये कहते हैं ।

सिद्धांतमतरीत्यैव रत्नत्रयपथस्थितः ।
सर्वदोषपरीहारं विधेयाद्विधिना ततः ॥ ८४ ॥

अर्थ—उस समय साधकको सिद्धांत शास्त्रोंमें कहे अनुसार विधिसे ही रत्नत्रयके मार्गमें विराजमान होना चाहिये और फिर विधिपूर्वक सब दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ—उस समय निर्यापकाचार्य की आज्ञानुसार शास्त्रानुकूल विधिसे रत्नत्रयका पालन करना चाहिये और फिर उन्हीं आचार्यकी आज्ञानुसार दोषोंका त्याग करदेना चाहिये ।

आगे आराधनाओंको कहते हैं ।

रत्नत्रयं तपोलीनं सर्वदोषविदूरितम् ।

त्रिशुध्याराध्यते यत्र सा शुद्धाराधना स्मृता ॥ ८५ ॥

अर्थ – मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक सब दोषोंसे रहित रत्नत्रयका आराधन करना और तपश्चरणका आराधन करना ये चार शुद्ध आराधानाएं कहलाती हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप ये चार आराधना कहलाती हैं। इनको मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक आराधन करनेसे अजर अमर पद प्राप्त हो जाता है। ये आराधनाएं साक्षात् मोक्षकी कारण हैं इसलिये आराधकको समाधि मरण के समय ये अवश्य धारण करनी चाहिये।

आगे निश्चय आराधनाओंको बतलाते हैं।

दर्शनादिप्रभेदेन सा स्मृता व्यवहारतः।
परमार्थात् पुनः सोयमात्मैव परमेश्वरः ॥ ८६ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र और तप ये आराधनाके चार भेद व्यवहार नयसे बतलाये हैं। यदि निश्चय नयसे देखा जाय तो परब्रह्म परमात्मस्वरूप आत्मा ही आराधना स्वरूप है।

भावार्थ—जिसका आराधन किया जाय चिंतवन किया जाय वा ध्यान किया जाय उन्हें आराधना कहते हैं। व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शन आदि चारों आराधनाओंका आराधन अलग अलग किया जाता है। परंतु निश्चय नयसे अपने शुद्ध आत्मा का ही आराधन किया जाता है। सम्यग्दर्शनादिक चारों ही आत्मा के गुण हैं। यदि इन को गुणरूप से पृथक् पृथक् चिंतवन किया जाय तो अपने आप यह व्यवहार नय हो जाता है। क्योंकि गुण गुणीका भेद-व्यवहार नयसे ही होता है। शुद्ध निश्चय नयसे गुण गुणी अभिन्नस्वरूप होते हैं। अतएव शुद्ध निश्चय नयसे अपना आत्मा ही चारों आराधनाओं मय है। इसलिये शुद्ध निश्चयनयसे अपने शुद्ध स्वरूप सच्चिदानंदमय आत्माका ही ध्यान करना चाहिये

आगे आत्माके चिंतवनमें सबका चिंतवन आजाता है ऐसा दिखलाते हैं।

बोधदर्शनवृत्तानि तपसा सह सर्वदा
शुद्धात्माराधने नूनं सर्वमाराधितं भवेत् ॥ ८७ ॥

अर्थः—अपने शुद्धस्वरूप आत्माका चिंतवन कर लेनेपर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन सबका आराधन अवश्य हो जाता है।

भावार्थ—गुणोंका समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। आत्मा द्रव्य है और चारों आराधनाएं उसके गुण हैं। चारों आराधनाओंका समुदाय ही आत्मा है। अतएव आत्माका चिंतवन करनेसे चारों आराधनाओंका चिंतवन अपने आप हो जाता है। साधक को समाधिमरण के समय सब विकल्पोंका त्याग कर और मनको निश्चल कर शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये।

आगे शुद्ध आत्माका स्वरूप और उसके आराधन करनेकी विधि बतलाते हैं।

शुद्धात्मभावसंवित्तिरूपमात्मानमात्मगः।
बोधदर्शनभावाभ्यां भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ—यह अपना आत्मा शुद्ध आत्माके स्वभावसे उत्पन्न हुआ शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप आत्माके परिणामोंसे चिंतवन करते हुए तन्मय हो जाना चाहिये।

भावार्थ—अपना आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है और शुद्ध दर्शनस्वरूप है। अतएव साधकको इन्हीं दोनों भावोंका इन्हीं दोनों भावोंसे चिंतवन करते हुए तन्मय हो जाना चाहिये। तन्मय हो जाना ही आत्ममय हो जाना है, और वही शुद्ध आत्माका ध्यान कहलाता है। शुद्ध आत्मध्यानके समय ध्याता ध्येय और ध्यानमें कुछ अंतर नहीं रहता। उस समय ध्यान करनेवाला ध्याता भी शुद्ध आत्मा ही

होता है। ध्येय भी शुद्ध आत्मा ही होता है और ध्यान भी शुद्ध आत्म-स्वरूप ही होता है। क्योंकि उस समय अपना ही शुद्ध आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मामें लीन होकर उसी अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करता है। यही निश्चय ध्यान है। यह समाधि मरणके समय आराधकको अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे अनंतसुख परमात्मस्वरूप है ऐसा दिखलाते हैं।

व्रतं दूरे तपो दूरे दूरे संयमभावना।
परानंदसुधास्वादो न दूरे परमात्मनः॥ ८९॥

अर्थ—अपने शुद्धस्वरूप परमात्मासे व्रत भी दूर है, तप भी दूर है और संयम की भावना भी दूर है। परंतु परम आनंद स्वरूप अमृतका स्वाद दूर नहीं है।

भावार्थ—अपने शुद्धस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके समय व्रत भी छूट जाते हैं, तप भी छूट जाता है और संयम भी छूट जाता है। परंतु सच्चिदानंद स्वरूप अनंत सुखरूपी अमृतका आस्वादन नहीं छूटता। व्रत तप संयम आदि सब शुद्धात्माकी प्राप्तिके साधन हैं। जब शुद्धात्मस्वरूप साध्यकी सिद्धि हो जाती है तब साधनोंकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। अतएव उस समय व्रतादिक तो सब छूट जाते हैं या शुद्धात्मामें लीन हो जाते हैं परंतु अनंत सुखामृत उसी समय प्रगट होता है और फिर वह सदा प्रगटरूप ही रहता है। न वह छूटता है और न वह किसी में लीन होता है। वह शुद्ध आत्माके साथ साथ सदा विद्यमान रहता है। इसलिये साधकको शुद्ध आत्माकी प्राप्तिका ही उपाय करना चाहिये।

आगे स्वानुभूतिकी महिमा दिखलाते हैं।

स्वानुभूतिलवोपीह येन संस्पृश्यते स्वयम्॥
वृत्तवृद्धास्तपोवृद्धाः सेवन्ते तत्पदद्वयम्॥ ९०॥

अर्थ—जो साधक इस संसारमें स्वानुभूतिके एक भाग मात्रको

भी स्पर्श कर लेता है उसके दोनों चरण कमल बडे बडे चारित्रको धारण करने वाले और घोर तपश्चरण करनेवाले सब मुनि सेवन करते हैं।

भावार्थ–स्वानुभूतिकी अचिंत्य महिमा है। इसके सामने चारित्र और तपश्चरण कोई चीज नहीं हैं। बडे बडे तपस्वी भी स्वानुभूतिकी महिमाका वर्णन करते हैं। इस स्वानुभूतिके स्पर्श करनेमात्रसे ही बडे बडे तपस्वी सेवक बन जाते हैं। इसलिये साधक को स्वानुभूति के प्रगट करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

आगे सल्लेखनाके अतिचार दिखलाते हैं।

शंसा मृत्योरमृत्योर्वा प्रीतिर्वा बांधवादिषु।
शर्मानुबंधसंधानं निदानैः सह तन्मलम् ॥ ९१ ॥

अर्थ–जीवित रहनेकी आशा रखना, मरनेकी आशा रखना, भाई बंधुओंमें प्रेम करना, भोगे हुए सुख का स्मरण करना, और निदान ये पांच समाधि मरणके अतिचार हैं।

भावार्थ–साधक अवस्थामें अपना आदर सत्कार अधिक होता देखकर अधिक जीवित रहनेकी इच्छा रखना पहला अतिचार है। रोगादिकके कारण अधिक दुःखी होनेपर शीघ्र ही मरनेकी इच्छा रखना दूसरा अतिचार है। बंधु बांधवोंमें वा मित्रोंमें प्रेम रखना तीसरा अतिचार है। सुखोंका स्मरण करना चौथा अतिचार है और आगामी कालके लिये भोगोंकी इच्छा करना पांचवा अतिचार है। इन सब अतिचारोंसे परिणाम विकल होते हैं और व्याकुल परिणामोंसे ध्यान नहीं हो सकता। अतएव साधकको सब अतिचारोंका त्याग कर समता भाव धारण करना चाहिये। शांत परिणामोंसे पंच परमेष्ठीका चिंतवन करना चाहिये और शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये।

आगे आराधनासे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा दिखलाते हैं।

विशुद्धाराधना यस्य तद्भवेपि स सिद्ध्यति।
मध्यमायां भवाः सप्त हीनायां बहवो भवाः ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो साधक विशुद्ध भावोंसे आराधनाओंका आराधन करता है वह उसी भवसे सिद्ध हो जाता है। जो उन्हीं आराधनाओं को मध्यम भावोंसे आराधन करता है वह सात भवमें मुक्त हो जाता है। और जो आराधनाओंका आराधन नहीं करता वह अनंत भवतक संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—पहले भी कह चुके हैं कि शुद्ध आराधनाएं शुद्ध आत्मस्वरूप हैं। जो साधक अपने शुद्ध आत्मामें लीन होकर अपने शुद्ध आत्मासे अपने ही शुद्ध आत्माका चिंतवन करता है वह अवश्य ही उस भवसे मुक्त हो जाता है। तथा जो आराधक अपने आत्माको इतना शुद्ध नहीं कर सकता वह कर्मोंको नष्ट भी नहीं कर सकता, वह मध्यम भावोंसे ध्यान करता है इसलिये वह इंद्र चक्रवर्ती आदिकी विभूतियोंका अनुभव करता हुआ सात भवमें मुक्त हो जाता है। और जो आराधनाओंका आराधन नहीं करता वह कभी मुक्त नहीं होता। वह सदा संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है। मोक्ष प्राप्तिका उपाय आराधनाओंका आराधन करना है इसलिये साधकको इन आराधनाओंका आराधन अवश्य करना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनकी महिमा दिखलाते हैं।

यद्याराध्यो भवेद्भव्यो मुहूर्तमपि दर्शनी।
निर्वाति नियमात्सोपि तदत्र प्रयतो भवेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ—यदि भव्य जीव आराधना करता एक मुहूर्तके लिये भी सम्यग्दर्शन धारण करले तो वह भी समयानुसार अवश्य मुक्त हो जाता है। इसलिये इस संसारमें आकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्माका निजी गुण है, आत्मासे कभी भिन्न नहीं होता तथापि वह अनादिकालसे कर्मोंसे ढका हुआ है। यदि वह सम्यग्दर्शन आत्माका गुण एक वार मुहूर्त भरके लिये भी

प्रगट हो जाय—मुहूर्त भरके लिये भी उस गुणको ढकनेवाले कर्मोका उपशम हो जाय तो उसके मोक्ष जानेका निश्चय अवश्य हो जाय। यदि वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर शुद्ध चारित्रको धारण करले तो उसी भवसे मुक्त हो जाय; अन्यथा वह थोडे भवोंतक स्वर्गादिकोंके अनुपम सुख भोगता हुआ सात भवमें मुक्त हो जाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेनेपर वह मुक्त अवश्य होता है। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं।

आगे—बालबालमरणके त्यागका उपदेश—

दुस्तरापारसंसारे बालबालमृतिः पुरा—।
नंतानंताश्रिता पूर्वं तदात्मन् प्रयतो भव ॥ ९४ ॥

अर्थ—जिससे पार होना अत्यंत कठिन हैं ऐसे इस अपार संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने पहले अनंतानंत वार बाल बाल मरण किया हैं। इसलिये हे आत्मन् अब तुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—मरण पांच प्रकारका है। बालबाल मरण, बालमरण, बालपंडित मरण, पंडित मरण और पंडितपंडित मरण। इनमेंसे केवली भगवान्‌के निर्वाण होनेको पंडितपंडित मरण कहते हैं। चारित्रको धारण करनेवाले मुनियोंका मरण पंडित मरण है। देशविरती श्रावकोंका मरण बालपंडित मरण है। अविरत सम्यग्दृष्टीका मरण बाल मरण है। मिथ्या दृष्टिका मरण बालबाल मरण है। जबतक सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता तब तक इस जीवका मरण बालबाल मरण ही होता रहता है। और ऐसा वह बालबाल मरण अनंतवार हो चुका है। यदि यह आत्मा पूर्ण प्रयत्न करके सम्यग्दर्शनको धारण करले तो फिर सदाके लिये इसका यह दुःखदायी बालबाल मरण छूट जाय। अतएव मनुष्यजन्म पाकर सम्यग्दर्शन धारण करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

आगे मिथ्या दर्शनका त्याग करानेके लिये कहते हैं।

मिथ्याभावपराधीनो बालमृत्यूननन्तशः।
प्राप्तोस्यात्मन् भवावर्ते तदाराधय दर्शनम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तेंने मिथ्यात्वरूप भावोंके पराधीन होकर इस संसार महासागरमें अनंतवार बालबाल मरण किया है। अतएव इससे बचनेकेलिये तू अब सम्यग्दर्शन आराधन कर।

भावार्थ-बालबाल मरण सम्यग्दर्शन के विना ही होता है। यह जीव अनादि कालसे इस संसार—महासागरमें परिभ्रमण कर रहा है और तबसे अबतक बराबर बालबाल मरण ही धारण कर रहा है। अनंतानंतवार बालबाल मरण धारण कर लिया है। तथा जबतक तू बालबाल मरण धारण करता रहेगा तबतक कभी सुखी नहीं रह सकेगा। यदि तू सुखी रहना चाहता है और संसार—महासागरसे पार होना चाहता है तो तुझे सम्यग्दर्शन का आराधन कर लेना चाहिये। सम्यग्दर्शन के प्राप्त होनेपर न तो बालबाल मरण हो सकता है, न यह जीव संसारमें परिभ्रमण कर सकता है और न फिर कभी दुःखी हो सकता है। इसलिये मनुष्य जन्म पाकर समाधिमरणको धारण करते हुए सम्यग्दर्शनका आराधन अवश्य करना चाहिये।

आगे मिथ्याज्ञानको छोड देनेके लिये उसका प्रभाव दिखलाते हैं।

बालमृत्युशतं प्राप्तोनंतानंतभवस्थितो।
स्वात्मतत्त्वबहिर्भूतो मिथ्याबोधमहाभ्रमात् ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् तू मिथ्याज्ञानके महाभ्रममें पडकर आत्मतत्त्वके स्वपर भेदस्वरूप ज्ञानसे पराङ्मुख हो रहा है और इसीलिये तेने अनंतानंत भवोंको धारण करनेवाले इस संसार में अनंतवार ही बालबाल मरण धारण किया है।

भावार्थ—इस जीवने आजतक जो अनंतवार बाल बाल मरण धारण किया है, अनंत भव धारण किये हैं और आत्मतत्त्वसे बहिर्भूत हो रहा है सो मिथ्याज्ञान के महा भ्रममें पडकर ही इसने ऐसा किया है। यदि मिथ्या ज्ञान छूट जाय तो उसके साथ बालबाल मरण—भवभ्रमण आदि सब छूट जाय। इसलिये समाधिमरण धारण करनेवाले साधकको मिथ्याज्ञान अवश्य छोड देना चाहिये।

आगे मिथ्याचारित्र का त्याग करानेके लिये कहते हैं।

बालबालमृतिं प्राप्तोऽनंतवारान् भवभ्रमे ।
मिथ्यावृत्तपथे लीनः सद्वृत्तावृतिमोहवान् ॥ ९७ ॥

अर्थ—सम्यक् चारित्रको आवरण करनेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्याचारित्रको धारण करनेमें लीन हुए और अनंत संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने अनंत वार ही बालबाल मरण धारण किया है।

भावार्थ—बालबाल मरण का कारण मिथ्या चारित्र है। अतएव आराधकको मिथ्या चारित्रका त्याग कर सम्यक् चारित्र धारण करना चाहिये।

इस प्रकार मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही बालबाल मरण का कारण है। तथा ये ही तीनों संसार के दुःखों के वा पंच परावर्तनके कारण हैं। इसलिये समाधिमरण करनेवाले आराधकको सबसे पहले इन तीनों का त्याग करदेना चाहिये।

आगे रत्नत्रय धारण करनेकेलिये कहते हैं।

तदेवं तत्त्वमाश्रित्य स्वात्मभावं समाश्रय ।
साध्यसाधनभावेन रत्नत्रयपरो भव ॥ ९८ ॥

अर्थ—अतएव स्वपर भेदविज्ञान–स्वरूप अपने ही आत्माके स्वभावमें लीन हो जाना चाहिये। और साध्य–साधन–भावोंके द्वारा रत्नत्रयमें तल्लीन हो जाना चाहिये।

भावार्थ—अंतमें साधककेलिये उपदेश देते हैं कि हे साधक तू मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका त्याग कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें लीन हो। रत्नत्रय आत्मस्वरूप हैं इसलिये वही तो साध्यस्वरूप है और वह शुद्ध आत्माका स्वरूप रत्नत्रयसे ही प्रगट होता है इसलिये वही रत्नत्रय साधनस्वरूप है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका आश्रय लेकर व्यवहारनय और शुद्धनय दोनोंके द्वारा रत्नत्रय का आराधन करना चाहिये।

आगे आत्मज्ञानकी सरलता और कठिनता दिखलाते हैं।

धन्यानां हृदये तत्त्वं श्रुतमात्रं विलीयते ।

सहस्रशोप्यधीयानैर्दूरभव्यैर्न बुध्यते ॥ ९९ ॥

अर्थ—पुण्यवान् भव्य जीवोंको धन्य कहते हैं। ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें आत्मतत्त्वका परिज्ञान सुनने मात्रसे हो जाता है। परंतु जो जीव दूरभव्य हैं दूरानुदूर भव्य हैं अथवा अभव्य हैं उनके हृदयमें हजार वार समझाने पर भी परिज्ञान नहीं होता।

भावार्थ—आत्मज्ञानका होना अत्यंत कठिन है। जिनकी काललब्धि अत्यंत दूर है ऐसे दूरभव्य वा दूरातिदूर भव्योंको अथवा अभव्योंको हजारों वार समझाने पर भी हजारों वर्ष पढानेपर भी वह आत्मज्ञान नहीं होता। परंतु जिनकी काललब्धि निकट है, अतिशय पुण्य कर्मोंके उदयसे जिनका आत्मा धर्मसे द्वेष नहीं करता अथवा धर्ममें तल्लीन रहता है उनके हृदयमें यह आत्मपरिज्ञान सुननेमात्रसे हो जाता है। हे भव्य जीव तुझे समाधिमरण धारण करनेका समय मिला है। अतिशय पुण्यकर्मके उदयसे सब सामग्री प्राप्त होगई है। और यह तेरा अंत समय है। इसलिये अब तू शरीरादिकसे सर्वथा ममत्व छोडकर रत्नत्रयमें लीन हो—अपने शुद्धस्वरूप आत्मामें लीन हो। और इस प्रकार अपनी रत्नत्रयरूप निधिको साथ लेता हुआ परलोक के लिये तयारी कर। रत्नत्रयरूप निधिके साथ रहनेसे तुझे परलोकमें भी अपार सुख मिलेगा और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति भी बहुत ही शीघ्र हो जायगी। इति।

इस प्रकार महापंडित यशःकीर्ति विरचित प्रबोधसार नामके
ग्रंथमें तीन शिक्षाव्रत और सल्लेखनाका निरूपण
करनेवाला यह तीसरा अध्याय चावली
(आगरा) निवासी लालाराम जैन
शास्त्री कृत हिंदी भाषामें
समाप्त हुआ।

इस प्रकार यह प्रबोधसार नामका ग्रंथ समाप्त हुआ.

शुभ मिति कार्तिक सुदी २ वी. नि. सं. २४५१